Printed and published by K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd, Allahabad

प्रस्तावना

सच्चिदानन्द घन की कृपा से आज हम भाषा-काव्यरसिकों के समक्ष आनन्द और संकोच के साथ महाकवि देवदत्तजी की रचनाओं का संक्षिप्त संग्रह उपस्थित करते हैं। इस संग्रह में कई सौ छन्दों का संकलन है। आनन्द इसलिए है कि साहित्यानुरागियों को एक लब्धप्रतिष्ठ कवि की सुललित रचनाओं के रसास्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा और संकोच इसलिए है कि कुछ लोग इसे शृङ्गार-प्रधान होने के कारण उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे। इसके प्रति क्षोभ प्रकट करनेवाले वे ही सज्जन होंगे जो विशुद्ध तथा पवित्र शृङ्गार के वास्तविक सौंदर्य्य एवं रहस्य को न समझकर सामयिक प्रवाह मे बहते हैं और शृंगारी रचनाओं को अश्लीलता एवं दुश्चरित्रता की जननी समझते हैं। किन्तु यह अपनी अपनी रुचि की बात है।

प्रस्तुत संग्रह देवजी की सुप्रसिद्ध रचनाओं से किया गया है। अष्टयाम, भावविलास, भवानीविलास, रसविलास, प्रेमचन्द्रिका, सुखसागर-तरंग, कुशल-विलास एवं शब्दरसायन को प्राप्त करने की हमने चेष्टा की। इनमें से कुशलविलास की हस्तलिखित प्रति-लिपि हिन्दुस्तानी एकेडमी की कृपा से प्राप्त हुई और सुखसागर-तरंग कानपुर-निवासी पं० श्यामविहारी शर्मा से।

हमारे विचार से इस संग्रह के समग्र छन्द उत्कृष्ट हैं।

देवजी लगभग ५२ ग्रन्थों के रचयिता बतलाये जाते हैं। ग्रन्थ बनाने में उनको इसलिए देर नहीं लगती थी कि वे प्रायः एक ही छन्द को अपने भिन्न भिन्न ग्रन्थों में यथास्थान सन्निविष्ट कर दिया करते थे। इनके एक ही छन्द में भिन्न भिन्न रस, अलंकार, भाव, गुण, वृत्ति, ध्वनि इत्यादि का सन्निवेश रहा करता था। अतः एक ही छन्द कई साहित्यिक विषयों के उदाहरणों के लिए पर्य्याप्त था। इसी लिए इस संग्रह में भी सुललित छन्दों की एकाधिक बार आवृत्ति हो जाना सम्भव है। अपने सहयोगी समालोचकों की रचनाओं से इस पुस्तक की रचना करने मे सहायता मिली है। अतः श्रीयुक्त मिश्रबन्धुओं एवं कृष्णविहारी मिश्र को धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। साथ ही पं० श्यामविहारी शर्म्मा, पं० गणेशप्रसाद चतुर्वेदी आदि के भी हम कृतज्ञ हैं, जिनकी कृपा से हमें देवजी की अलभ्य रचनाओं से संग्रह करने का अवसर मिला।

प्रयाग
शिवरात्रि, सं० १९९५

हरदयालु सिंह

विषय-सूची

देव दर्शन

मङ्गलाचरण

एकै पग सोहत बिभूति सिव आभरण,
दूजे पग जेबदार जावक जरे रहैं।
एकै कर पन्नग कौ कंकन बिराजै चारु,
दूजे कर चूरिन की सुषमा सजे रहैं॥
आधे भाल राजत है गङ्ग की तरङ्ग तुङ्ग,
आधे भाल लाल लाल सेंदुर भरे रहैं।
पापनि नसावैं दुःख-द्वन्दनि दुरावैं,
सोई गिरिजा गिरीस जग मंगल करे रहैं॥

महाकवि देवदत्त का जीवन-चरित

दो० तुलसी ससि पुनि सूर रवि, केसव उडु, उपमान।
पै भाषा मैं देव कवि, केवल देव समान॥

हिन्दी-साहित्य के सूर्य महाकवि सूरदास और चन्द्रमा गोस्वामी तुलसीदास तथा नक्षत्र-सदृश आचार्य केशवदास के साथ महाकवि देवदत्त की तुलना करते हुए मिश्रबन्धुओं ने

कहा था कि देव वह व्योम-मंडल है जिसमें सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रादिक सभी अपनी अपनी कक्षा में घूमा करते हैं। इस उक्ति में वास्तविक तथ्य है। इसी तथ्य का निरूपण हम आगे चलकर यथास्थान उदाहरणों द्वारा करेंगे। हमारी धारणा है कि यदि हिन्दी-साहित्य में पक्षपात-पूर्ण मनोवृत्ति से काम न लिया जाय या महाकवि की रचनाओं के साथ उनके त्याग और तपस्या के अङ्क न जोड़े जायँ तो अवश्य महाकवि देवदत्त के सामने प्रतियोगिता में कोई नहीं ठहर सकता।

महाकवि देवदत्त का जन्म विक्रमीय सं० १७३० मे इटावे में हुआ था, जैसा उन्होंने स्वयं कहा है "द्यौसरिया कवि देव को नगर इटाये वास।" इसके अतिरिक्त उन्होंने 'भावविलास' मे कहा है कि सोलहवें वर्ष के चलते ही संवत् १७४६ में उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया था। संवत् १७४६ में देवदत्त की अवस्था सोलह वर्ष की थी; अतः इनका जन्माब्द १७३० ही माना जायगा। कुछ लोग मैनपुरी को इनका जन्मस्थान होने का श्रेय देते हैं। बहुत सम्भव है कि उस समय मैनपुरी और इटावा के ज़िले सम्मिलित रहे हों, जैसा कि बहुत दिन तक रह चुके हैं।

देव कवि कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इटावा शहर के पंसारी टोला बल्लालपुरा में रहते थे। इनके वंशज अब भी मैनपुरी मण्डलान्तर्गत कुसमरा ग्राम में रहते हैं। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्मस्थान 'समाना गाँव' माना है। वह भी मैनपुरी मे ही है। इनके पिता का नाम बिहारीलाल

था। उनके व्यवसाय एवं शिक्षा-दीक्षा के विषय में कोई बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती।

कविवर देव सरस्वती के उन वरद पुत्रों मे थे, जिन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था मे ही भावविलास ऐसे सुन्दर रीति-ग्रन्थ लिखने की क्षमता पाई थी। यदि महाकवि भवभूति की तरह ये भी दर्पोक्ति मे कहते कि

वचन के वस जासु सरस्वती
करति काज मनो गृहभामिनी।

तो इसमें कोई अत्युक्ति न होती। क्योंकि इन्हीं वीणा-पाणि के प्रसाद से देव कवि लगभग ५२ या ७२ ग्रन्थों के प्रणेता माने जाते हैं, जिनमें से आधे ग्रन्थों को मुद्रण का भी सौभाग्य प्राप्त हो सका है।

जिस समय महाकवि देवदत्त की कविता-मरीचि-मालिकाएँ दिगन्तों को धवलित कर रही थीं, उस समय दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर मुग़ल-कुल-धूमकेतु औरङ्गज़ेब था। इसके तृतीय पुत्र का नाम आज़मशाह था। यह बड़ा ही गुणज्ञ, वीर एवं साहित्यानुरागी था। इसी ने बिहारी-सतसई को क्रम-बद्ध कराया था। इसी लिए सतसई का आज़मशाही क्रम प्रसिद्ध है। कविवर देवदत्त को इसी का आश्रय मिला। इसने देव के अष्टयाम और भावविलास को ध्यान-पूर्वक सुना और उसकी प्रशंसा की थी। यह घटना संवत् १७४६ की है। यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि देव की

भेट आजमशाह से कहाँ हुई थी; दिल्ली में या दक्षिण में? इतिहास के अनुशीलन से सिद्ध होता है कि उस समय औरङ्गज़ेब दक्षिण की रियासतों को ध्वस करने में लगा था, और राजकुमार आज़मशाह उसी की संरक्षकता में सैन्य-संचालन करता था। इसी काल में महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी के पुत्र शम्भाजी का विरोध-वध किया गया था, जिनका एकमात्र अपराध यह था कि वे राजबन्दी होकर भी औरङ्गज़ेब के इच्छानुसार धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार न थे। परम प्रतिभा-सम्पन्न देव को आजमशाह जैसा उदारहृदय आश्रय-दाता मिलना नितान्त स्वाभाविक था। उनके कवित्व का यही ईश्वर-दत्त उपहार था।

जिस प्रकार चक्रनेमि ऊपर-नीचे जाते-आते हैं, उसी प्रकार भाग्य-रेखा भी चलती रहती है। जिसकी उन्नति चरम सीमा तक पहुँच जाती है, उसका ह्रास भी होता है। संवत् १७५१ के लगभग विधि-विडम्बना-वश औरङ्गज़ेब की शनि-दृष्टि आज़मशाह पर पड़ी। वह प्रकारान्तर से छिन्नविभव होकर दूरस्थ गुजरात प्रान्त का शासक बनाया गया, और राजकुमार मोअज्जम औरङ्गज़ेब का कृपापात्र हुआ। संवत् १७६४ में औरङ्गजेब का देहान्त हुआ और चारों राजकुमारों में मयूर-सिंहासन के लिए युद्ध होने लगा। इस युद्ध में आज़मशाह मारा गया। उसकी मृत्यु के साथ देव कवि का सम्पर्क भी दिल्ली-दरबार से छूट गया। ऐसी दशा में देव ने किसी आश्रय-दाता की खोज में या तीर्थाटन के लिए लम्बी यात्रा की होगी, और उस यात्रा

के ही सम्बन्ध में इन्होंने भारत के भिन्न भिन्न देशों और नगरों का निरीक्षण किया होगा तथा वहाँ के निवासियों की वेश-भूषा, रहन-सहन इत्यादि को भली भाँति देखकर जाति-विलास की रचना की होगी। इस सुदीर्घ यात्रा से प्राप्त अनुभव को देव व्यर्थ कैसे करते ?

कहते हैं कि देव बडे ही रूपवान् थे। उनकी वाणी बड़ी मधुर थी। स्वाभिमान उनमें कूट कूटकर भरा था। वे पुराने ढंग का बड़े घेर का जामा पहनते थे, और सिर पर पगड़ी लगाते थे। इनके वाक्‌सिद्ध कवीश्वर होने के सम्बन्ध में एक दन्त-कथा प्रचलित है। एक बार देव भरतपुराधीश महाराज जवाहिरसिंह से मिलने गये। उस समय डीग के दुर्ग का निर्माण हो रहा था। महाराज ने इनसे कविता सुनाने का आग्रह किया, परन्तु देव ने उस समय सुनाना स्वीकार नहीं किया और कहा कि इस समय सरस्वती मौनावलम्बन किये हुए है। परन्तु महाराज के बार-बार आग्रह करने पर इन्होंने कई छन्द सुनाये। दुर्भाग्य-वश इनके मुख से इस आशय का भी एक छन्द निकल गया कि डीग दुर्ग मे मनुष्यों के सिर लुढकते फिरेंगे।

एक राजा के सामने ऐसी निर्भीकता के साथ स्पष्ट बात कहना कोई साधारण बात न थी। यह देव ऐसे साहसी कवि का ही काम था जो सरस्वती की आज्ञा की अवहेलना न करके स्पष्ट बात कह दे। महाराज को देव की यह स्पष्टवादिता पसन्द न आई होगी, और कदाचित् इन्हे पुरस्कार भी न मिला

होगा। पर देव को इसकी क्या चिन्ता थी। कहते हैं कि देव की भविष्यवाणी सर्वथा ठीक निकली।

दिल्ली-दरबार से अलग होकर देव अपने लिए किसी सुयोग्य गुणग्राही आश्रयदाता की खोज में रहे। अन्त मे इन्हे भवानीदत्त वैश्य का आश्रय मिला। इन्हीं के नाम पर आपने 'भवानीविलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। परन्तु यहाँ भी देव टिके नहीं। कुछ समय के बाद आप इटावा के शुभकर्णसिंह सेंगर के पुत्र कुशलसिंह के यहाँ गये और उनके नाम पर 'कुशलविलास' बनाया। इसके बाद आपको राजा उद्योतसिंह का आश्रय मिला। उद्योतसिंह के पिता का नाम मर्दनसिंह था। उद्योतसिंह बड़े साहित्यानुरागी थे। इनके नाम पर देव ने 'प्रेमचन्द्रिका' की रचना की है।

इन तीनों ग्रन्थों मे देव ने अपने आश्रय-दाताओं का नामोल्लेख तो किया है, परन्तु उनकी प्रशंसा मे छन्द नहीं कहे। अपने आश्रयदाता के प्रति कवि की इतनी उदासीनता और शब्द-कृपणता का कारण समझ में नहीं आता। संभव है, इसका कारण वही स्पष्टवादिता हो, या देव ने अपने आश्रयदाताओं में वे गुण न देखे हों जिन पर मुग्ध होकर कवि को उनकी प्रशंसा करने की प्रवृत्ति होती है। अथवा यह भी संभव है कि इन लोगों ने देव का यथेष्ट आदर न किया हो, अथवा इनका आदर उन्हे न जँचा हो। क्योंकि ये सम्राट् का आदर प्राप्त कर चुके थे। अथवा इनके आर्थिक आदर के

साथ गुणग्राहकता और सम्मान का अभाव रहा हो, जिससे देव ने इनकी प्रशंसा न की हो। अन्यथा कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि हजारों छन्दों का बनानेवाला कवि अपने आश्रयदाता के प्रति इस प्रकार मौन रहे। यदि कहा जाय कि देव की मनोवृत्ति ही ऐसी थी या उनमें कृतज्ञता-प्रकाशन के भाव ही न थे, तो ऐसा अनुमान नितान्त निर्मूल होगा। अवाक् पशु में भी कृतज्ञता-प्रकाशन के भाव होते हैं, फिर देव ऐसे उदारहृदय कवि में इसका अभाव कब सम्भव है? देवदत्त ने तो अपने गुण-ग्राही सुयोग्य आश्रयदाता के प्रति भूरि भूरि कृतज्ञता-प्रकाशन के भाव व्यक्त किये हैं; परन्तु उन्होंने ऐसा तभी किया है जब उनके विचार से वह व्यक्ति वास्तव में उस सम्मान का पात्र था।

संवत् १७८३ में देवदत्त को राजा भोगीलाल का आश्रय प्राप्त हुआ। मालूम होता है कि भोगीलाल बड़े ही गुणग्राही और कवियों के कल्पतरु रहे होंगे। इनके नाम पर देव ने 'रस-विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की और इसके पुरस्कार स्वरूप राजा साहब ने इन्हें दान-दक्षिणा से सन्तुष्ट किया। भोगीलाल की प्रशंसा कवि ने इस प्रकार की है

दोहा

देव सुकवि ताते तजे राव, रान, सुलतान।
'रसविलास' सुनि रीझिहैं 'भोगीलाल' सुजान॥

घनाक्षरी

भूलि गयो भोज, बलि, बिक्रम बिसरि गये,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं;
राजा, राव, राने, उमराव, उनमाने,
उन माने निज गुन के गरब गिरवीदे है।
सुबस बजाज जाके सौदागर सुकवि,
चलेई आवै दसहू दिसान के उनीदे हैं;
भोगीलाल भूप लाख-पाखर लिवैया, जिन,
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं॥

सरस्वती के उपासक से लक्ष्मी कुछ रूठी सी रहती है; क्योंकि सपत्नी भाव रखने के कारण जहाँ पर सरस्वती निवास करती है वहाँ पर कमला नहीं रहती। लक्ष्मी ने स्पष्ट ही कहा है

पीतः क्रुद्धेन तातश्चरणतलहतो वल्लभो येन रोषात्
आबाल्याद्विप्रवर्यैः स्ववदनविवरे धार्यते वैरिणी मे।
गेहं मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमानाथपूजानिमित्तं
तस्मात् खिन्ना सदाहं द्विजकुलनिलयं नाथ युक्तं त्यजामि॥

(अज्ञात कवि)

कदाचित इसी लिए महाकवि देवदत्त को स्थायी रूप से किसी सम्पन्न महापुरुष का आश्रय न प्राप्त हो सका। भोगीलाल के यहाँ कुछ मनमुटाव होने के कारण या तो देव टिक न सके अथवा उनका देहावसान हो गया, यह कुछ निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

जिस समय देव ने 'शब्द-रसायन' की रचना की थी, उस समय वे किसी के आश्रित न थे। इसी लिए वह किसी को समर्पित नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'जातिविलास' भी किसी को समर्पित नही है। इसके बाद बहुत दिनों तक देव को कोई आश्रयदाता न मिला, परन्तु इसके अभाव से देव ने काव्य-रचना में कोई शिथिलता नहीं दिखलाई। अन्त मे उन्हे पिहानी-निवासी अकबरअली खाँ का आश्रय प्राप्त हुआ और इन्होंने तब तक बनाई हुई सारी कविताओं को 'सुखसागर-तरंग-संग्रह' का नाम देकर इन्हीं महानुभाव के अर्पण किया।

रचना का विवेचन

कहा जाता है कि देव ने ५२ ग्रन्थ बनाये हैं। कुछ लोग इन्हें ७२ ग्रन्थों का रचयिता बताते हैं। इस अधिकता का कारण यह प्रतीत होता है कि इनके सुन्दर सुन्दर छन्द कई ग्रन्थों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'जातिविलास' और 'रसविलास' ही को ले लीजिए। इनके पढ़ने से विदित होगा कि जो छन्द रसविलास में है, वही जातिविलास मे है; और वही अन्य ग्रन्थों में भी। इससे हम इस अनुमान पर पहुँचते हैं कि देव कवि अपने ग्रन्थो के सुन्दर सुन्दर छन्दों को छाँटकर नये नये सग्रह तैयार किया करते थे। दूसरी बात यह भी है कि इनके एक ही छन्द मे कई सुन्दर भाव, रस, अलकार इत्यादि का सन्निवेश है। अतः साहित्य के भिन्न भिन्न

अङ्गों के उदाहरण देने के लिए वही एक छन्द काम में आ जाता था।

देव ने भर्तृहरि की तरह नीति और वैराग्यशतक भी लिखे है। वैराग्य का उदय स्वभावतः मनुष्य के हृदय में शृंगार के अनुभव के अनन्तर ही होता है, या उत्कृष्ट प्रेम पर ठेस लगने पर, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास और भर्तृहरि को हुआ था। यहाँ पर हम उन महानुभावों की चर्चा नहीं करते जिनमे ईश्वरदत्त विभूति के समान वैराग्य का अङ्कुर जन्म से ही होता है। देव ने जन्म भर शृंगारी रचनाएँ की थीं, और इसी शृंगार-प्रधान रचना करने के कारण वे शृंगारी कवियों के प्रमुख नेता कहे जाते थे। शृंगारी रचना करते करते अन्त मे उनकी प्रवृत्ति वैराग्य की ओर हुई होगी और सो भी वृद्धावस्था में। इससे प्रतीत होता है कि वैराग्यशतक देव की वृद्धावस्था की रचना होगी।

इससे पहले देव ने रामचरित का आश्रय लेकर कोई काव्य भी लिखा होगा जो इस समय अपने पूर्ण रूप मे उपलब्ध नहीं है; यद्यपि उसके सुन्दर सुन्दर छन्द इधर-उधर मिल जाते हैं। पाठकों के मनोविनोद के लिए हम निम्नलिखित छन्द उपस्थित करते हैं

सवैया

अनुराग के रंगनि रूपतरंगनि, अंगनि ओप मनो उफनी।
'कवि देव' हिये सियरानी सबै, सिय रानी को देखि सोहाग सनी।

वर धामिनि वाम चढ़ी बरसैं, मुसकानि सुधा घनसार घनी ।
सखियानि के आनन-इन्दनु तैं अँखियानि की वन्दनिवार तनी ।

कैसा सुन्दर और स्वाभाविक चित्र है। सीता की बिदा हो रही है। अपनी अपनी अटारियों पर खड़ी हुई मिथिला की सुन्दरियाँ बरात की बिदा देख रही हैं। वनिताएँ समान आकार की हैं। उनके मुख-मयङ्कों से नेत्र-इन्दीवरों की वन्दनवार सी बँधी मालूम होती है। महाकवि कालिदास ने भी इस भाव पर रघुवंश मे लिखा है:

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्य्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः सर्वकल्पः ।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनानाम्
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरंगनानाम् ॥

यदि कालिदास के श्लोक और देव के छन्द के भाव की तुलना की जाय तो विदित होगा कि देव की रचना मे जैसा सौन्दर्य है, वैसा कालिदास की कृति मे नहीं है।

इसी प्रकार रामचन्द्र के वनवासावधि समाप्त करके अयोध्या में पुनरागमन के समय कौशल्या का वर्णन देव ने किया है। कहना न होगा कि देव को जगज्जननी मिथिलानन्दिनी के प्रति कितनी श्रद्धा थी, यद्यपि वास्तव मे हित हरिवंश सम्प्रदाय के शिष्य होने के कारण वे व्रजाधीश श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द एवं वृषभानुनन्दिनी के उपासक थे

आग की भूमि सोहाग की भूपन, राजसिरी निधि लाज निवासू।
आई है मेरी दुहूँ कुल दीपक, धन्य पतिव्रत प्रेम प्रकासू।
लंक ते आई निसङ्क लिये सुख, सर्वसु वारति कौसिला सासू।
पाइन पैते उठाइ सियै, हिय लाइ बलाइ लै पोंछति आँसू॥

उपर्युक्त अवतरणों से सिद्ध होता है कि देव ने कोई रामपरक काव्य अवश्य लिखा होगा, जो समय के फेर से अब उपलब्ध नहीं है। देव के अन्तिम आश्रयदाता पिहानी-निवासी श्री अकबरअली खाँ थे। अकबरअली का समय संवत् १८२४ माना जाता है। इस समय देव की अवस्था ९४ वर्ष की थी। ५२ या ७२ ग्रन्थों को बनाकर ९४ वर्ष के वृद्ध से और कौन सी साहित्य-सेवा करने की आशा की जा सकती है? संभव है, वृद्धावस्था तक उनके हृदय मे रसिकता का आभास रहा हो। संभव है, केशव की तरह वे रसिक भी रहे हों परन्तु मस्तिष्क-शक्ति का उसी प्रकार काम करते जाना हमारी समझ मे कम आता है। यहाँ पर हम देव की तुलना उन महाकवि से नहीं करते जो ईश्वरीय कृपा के कारण १२६ वर्ष की अवस्था तक कविता करते रहे। 'सुखसागर तरङ्ग' के बाद की देव की और कोई रचना नहीं मिलती। इससे अनुमान होता है कि इन महाकवि का देहावसान लगभग ९४ वर्ष की अवस्था मे संवत् १८२४ के लगभग हुआ होगा।

देव के बनाये हुए २९ ग्रन्थों का पता अब तक चला है। इनकी तालिका इस प्रकार है

मुद्रित

१ भावविलास	प्रयाग से प्रकाशित
२ अष्टयाम	भारतजीवन प्रेस, काशी।
३ भवानीविलास	"
४ सुजानविनोद	काशी-नागरीप्रचारिणी सभा।
५ राग-रत्नाकर	"
६ प्रेमचन्द्रिका	"
७ रसविलास	भारतजीवन प्रेस, काशी।
८ सुखसागरतरङ्ग	लखनऊ से प्रकाशित।
९ जगद्दर्शन-पचीसी	[illegible] बालचन्द्र यन्त्रालय, जयपुर।
१० आत्म-दर्शन-पचीसी	
११ तत्त्वदर्शन-पचीसी	
१२ प्रेम-पचीसी	
१३ शृंगारविलासिनी	

हस्तलिखित

१४ प्रेमतरङ्ग, १५ कुशलविलास (हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग के पुस्तकालय मे रक्खी हुई), १६ देवचरित्र, १७ जातिविलास, १८ शब्दरसायन, १९ देव-माया-प्रपंच नाटक (अप्राप्य ग्रन्थ), १० वृक्षविलास, २१ पावस-विलास, २२ रसानन्द-लहरी, २३ प्रेम-दीपिका, २४ सुमिल विनोद, २५ राधिकाविलास, २६ नख-शिख-प्रेम-दर्शन, २७ नीतिशतक, २८ वैद्यक ग्रन्थ (भिनगा के पुस्तकालय में रक्खा हुआ)।

इन रचनाओं के अतिरिक्त मिश्रवन्धुओं ने देव-ग्रन्थावली के नाम से देव का स्फुट काव्यसंग्रह प्रकाशित कराया था, परन्तु वह अब सुलभ नहीं है। जब श्री दुलारेलाल भार्गव ने देव-पुरस्कार प्राप्त किया तो उन्होंने ओरछा-नरेश के सम्मानार्थ देव की उत्कृष्ट रचनाओं का संग्रह मिश्र-वन्धुओं के द्वारा सम्पादित कराके 'देव-सुधा' के नाम से प्रकाशित कराया। कहना न होगा कि यह संग्रह अपने ढङ्ग का एक ही है। मिश्रवन्धु यों ही देव के विशेषज्ञ हैं, उन्हे साहित्यिक व्यसन भी है; अतः देव के सम्बन्ध मे सुन्दर गवेषणापूर्ण लेख लिखने का अथवा सरस संग्रह तैयार करने का वास्तविक अधिकार उन्हीं को है। यहाँ पर कोई महानुभाव यह न समझें कि हम मिश्रवन्धुओं के अतिरिक्त अन्य साहित्य-सेवियों को देव पर कुछ लिखने के अधिकार से वंचित करते हैं। यदि ऐसा होता तो हम स्वयं देव पर लिखने की चेष्टा क्यों करते। आजकल स्वाधीनता का युग है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को कम से कम विचारों की स्वाधीनता अवश्य प्राप्त है।

इस प्रकार महाकवि देव-प्रणीत ग्रन्थों की तालिका है। आगे चलकर हम देव की उन रचनाओं के सम्बन्ध में विचार प्रकट करेंगे, जिनके देखने का हमे सौभाग्य प्राप्त हो सका है।

(१) भावविलास के सम्बन्ध में देव ने कहा है

सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव-मुख देवता, 'भावविलास' सहर्ष॥

अर्थात् यह रचना देव की कौमारावस्था की थी। इसकी रचना सवत् १७४६ में हुई थी। इसमें काव्य के सारे अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है।

भावविलास मे देव ने रीतिकाल के अन्य कवियों की प्रणाली का अनुसरण करते हुए छः प्रकार के भावों का उल्लेख किया है, यद्यपि सस्कृत काव्य मे इनसे अधिक का वर्णन है। इसी प्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने तेतीस संचारी भावों का उल्लेख किया है। परन्तु देव ने एक संचारी और बढ़ाकर उनकी संख्या चौंतीस की है और इसका नाम रक्खा है 'छल'। इस बात पर कुछ आलोचक इन्हे शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय देने को तैयार हैं, परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह 'छल' संचारी अवहित्था के अन्तर्गत ही है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि सब कुछ कर सकते हैं। वे चाहे तो इन तेतीस सचारियों के अतिरिक्त और भी कितने सचारी भाव दिखला सकते हैं, जिनका अनुभव तो हो सके, परन्तु नामकरण करना कठिन हो जाय। महाकवि सूरदास ने ऐसे ऐसे संचारी दिखलाये हैं जिनके नामकरण तक नहीं किये गये हैं।

देव ने दो प्रकार के रसों की कल्पना की है लौकिक और अलौकिक। अलौकिक रसों को फिर उन्होंने तीन भागों मे विभक्त किया है स्वप्न, मनोरथ और उपनायक; और लौकिक रसों को परम्परागत शृंगार-हास्यादिक नौ भेदों में। संस्कृत रीतिकार इन नौ रसों के वर्गीकरण पर आपत्ति करते है। उनका

तर्क यह है कि शांत रस कोई वस्तु नहीं। उसका स्थायी भाव निर्वेद कोई विशेष सत्ता नहीं रखता। फिर यदि स्थायी भाव के अस्तित्व पर ही संदेह किया जाता है तो रस की स्थापना कैसे की जाय? इसी प्रकार कुछ आचार्य नौ से अधिक रस मानते हैं। उनका अनुमान है कि वात्सल्य रस भी होना चाहिए। यदि इन लोगों का मत मान लिया जाय तो अन्य कई रसों के अस्तित्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा। साहित्य-दर्पणकार वात्सल्य रस की भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे इसे अपत्य-विषयक रति-भाव ही मानते हैं। इस प्रकार आचार्यों में मत-वैभिन्न्य है और बना भी रहेगा, क्योंकि शास्त्र की जितनी विवेचना होगी उतनी ही उसकी रूपरेखा निखरेगी और उसमें उतने ही नये नये भाव पैदा होंगे। देश-काल के अनुसार उनका वर्गीकरण और नामकरण भी करना होगा। इतना ही नहीं, उनके लक्षण और उदाहरण बनाकर साहित्य--ग्रन्थों में उनका यथास्थान समावेश भी करना होगा।

शृंगार रस के दो भेद हैं संयोग और विप्रलम्भ। इनके फिर दो दो भेद किये हैं प्रच्छन्न और प्रकाश। यह वर्गीकरण महाकवि केशवदास के मतानुसार किया गया है। देव ने संयोग शृंगार मे दस हावों का उल्लेख किया है। परन्तु संस्कृत के रीतिकारों ने द्वादश हावों का उल्लेख किया है। साहित्यदर्पणकार ने अठारह हाव कहे हैं। कविवर दास ने अपने काव्य-निर्णय मे इन्हें स्थान दिया है। इसी प्रकार देव ने

नायिकाओं के ३८४ भेद बतलाये हैं, परन्तु बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने अपने काव्य-प्रभाकर में ४७८९। इस प्रकार इस विवादास्पद विषय पर रीतिकारों मे मतभेद है। जिस आचार्य में जितनी प्रतिभा होती है वह उतनी ही पैनी दृष्टि से उस विषय को देखता है, और वैसा ही उसका विवेचन भी करके तदुपरान्त अपना मत स्थित करता है।

काव्य का स्वरूप स्थिर करने में भी प्रायः सभी कवियों मे पर्याप्त मतभेद है। जहाँ मम्मटाचार्य काव्य की सर्वथा अलंकारिता स्वीकार न करके किसी अनलंकृत वाक्य को भी काव्य मानने के लिए तैयार हैं, वहाँ देव की राय से काव्य का सौन्दर्य नभी निखरता है जब वह सालंकार हो। अपनी अपनी रुचि ही तो है।

देव ने भावप्रकाश मे ३९ अलंकार माने हैं, यद्यपि संस्कृत रीतिकारों ने इनकी संख्या १०८ कर रक्खी है। इसका कारण समझ मे नहीं आता। यदि यह कहा जाय कि देव के समय में अलंकारशास्त्र का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, तो यह तर्क हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार यदि कहा जाय कि देव पर्याप्त संस्कृत नहीं जानते थे, कि संस्कृत के आधार पर अपनी रचना करते, तो यह भारी भ्रम होगा। क्योंकि संस्कृत में भाषा के छंदों को ढाल देनेवाले कवि के सम्बन्ध मे ऐसी ऐसी कुतर्कनाएँ करना तो अपने अविवेक और अज्ञान की डौड़ी पीटना है। इसमें संदेह नहीं कि देव संस्कृत के अच्छे ज्ञाता

थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य से बहुत से भाव नहीं लिये, इसका कारण यह है कि वे मौलिकता के समर्थक थे। परन्तु उन्होंने संस्कृत के कवियों से जो भी भाव लिया है, उसको परिमार्जन करके ऐसा अपनाया है कि उस पर उनकी मुद्रा अंकित हो गई है। उन्होंने जो भाव लिये हैं, उन्हें उनके साहित्यिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर लिया है न कि केशव की तरह पाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ कोरे अनुवाद के लिए। सम्कृतगर्भित पदावली के प्रयोग से प्रखर पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। निष्कर्ष यह कि भावविलास अपने ढंग का एक सुन्दर ग्रंथ है। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि यह अपने समकक्ष भाषा के किसी रीति-ग्रंथ से विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से हीन नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि देव ऐसे ग्रंथ को १६ वर्ष की अवस्था में बना चुके थे। क्या यह उनकी लोकोत्तर एवं सर्वपथीन प्रखर प्रतिभा का परिचायक नहीं है ?

(२) अष्टयाम देव की द्वितीय रचना है। इसकी रचना भावविलास के साथ ही सवत् १७४६ मे ही हुई थी। इसे देव ने औरंगजेब के पुत्र आजमशाह को सुनाया था और उसने इसकी प्रशंसा भी की थी। इसके विषय मे देव ने भावविलास में लिखा है

दिल्लीपति नवरंग के, आजमसाहि सपूत।
सुन्यौ सराह्यौ ग्रंथ यह, अष्टयाम संजूत॥

जैसे इस ग्रंथ का विषय थोड़ा है, उसी अनुपात से इसका कलेवर भी छोटा है। दिनचर्य्या के वर्णन के लिए ही यह बनाया गया है। इससे मालूम होता है कि उस समय के राजाओं के पास विलास को छोड़कर कोई काम ही नहीं था। इसमें न कोई पढ़ने-लिखने की चर्चा है, न देवाराधन की और न किसी राज्य-प्रबन्ध की। चर्चा है तो केवल विलासिता की। समझ में नहीं आता कि देव ऐसे उच्च कोटि के कवि ने राजाओं के लिए ऐसा विलासप्रधान टाइमटेबुल क्यों तैयार किया। इसके छंद सुन्दर हैं।

(३) भवानीविलास दादरीपति राजा सीताराम-नन्दन भवानीदास वैश्य के नाम लिखा गया है। देव ने भवानीदास की प्रशंसा में इस प्रकार लिखा है

श्रीपति जेहि सम्पति दई, संतति सुमति सुनाम।
आदरीक अति दादरी-पति नृप सीताराम॥
सबलसिंह पति धर्मधुज सीताराम नरेंद्र।
तासुत इन्द्र कुबेर सम, बैस्य सुबस महेन्द्र॥
'देव' हरि हर बर देव तरवर किधौं,
सील सरवर नरवरन प्रमान है।
स्रुति को स्रवन दिव्य मारग के दृग कर,
नीके करनी के बिधि बिबिधि बिधान है।
सीतारामनन्दन भवानीदत्त 'देवीदत्त'
किर्त्ति के कलस सत्यधर्म के निसान है।

सम्पति निधान साँझ भोर ससि भान,
महामान सनमानिबे को मान सनमान हौ ॥

इस ग्रंथ में रसनिरूपण किया गया है। रसों की जैसी विशद व्याख्या की जानी चाहिए थी वैसी ही की गई है। देव ने वीर रस के तीन ही भेद किये हैं युद्धवीर, दयावीर और दानवीर। परन्तु पद्माकर ने इनके अतिरिक्त एक धर्मवीर और भी बतलाया है। मम्मटाचार्य युद्धवीर को ही वास्तविक वीर रस के अंतर्गत मानते हैं।

(४) सुजानविनोद भी नायिका-भेद-प्रधान है। ग्रंथ के प्रारम्भ मे उपालम्भ काव्य की शैली पर कुछ छंद उद्धव के विषय में लिखे गये है और अन्त मे ऋतुवर्णन है। इस ऋतुवर्णन में सेनापति के ऋतुवर्णन के समान कोई नवीनता नहीं है, परन्तु जिस प्राचीन पद्धति के अनुसार लिखा गया है, उस दृष्टि से इसकी रचना सराहनीय है।

(५) कुशलविलास की रचना फफूँद ज़िला इटावानिवासी ठाकुर शुभकरणसिंह के पुत्र कुशलसिंह के नाम पर की गई थी। इसको अभी मुद्रित होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है। इसे हिंदी-साहित्य का दुर्भाग्य कहना चाहिए कि देव ऐसे महाकवि की रचनाएँ अब तक प्रकाश में नहीं आईं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति प्रयाग के हिन्दुस्तानी एकेडेमी के पुस्तकालय मे रक्खी है और डा० ताराचन्द्र की कृपा से यह हमे देखने को मिली थी। इसी ग्रंथ से हमने कुशलविलास

का संग्रह भी किया है। इसकी कविता अच्छी है। इसमें देव ने अपने आश्रयदाता की अधिक प्रशंसा नहीं की है। संभव है, कुशलसिंह ने प्रचुर दान-दक्षिणा से सम्मानित न किया हो।

(६) देवचरित का विषय पौराणिक है। यह जरासन्ध-वध के समान कंसवध के विषय पर लिखा गया है। कंसवध तक तो इसके वर्णन विस्तार-पूर्वक है परन्तु अन्य वर्णन संक्षिप्त हैं। सूरसागर की तरह इसमे भगवान् की जिस लीला मे देव को अधिक आनन्द आया, उसका वर्णन उन्होंने विस्तार-पूर्वक किया और जिसमें यथेष्ट आनन्द नहीं आया उसको संक्षेप मे टाल दिया। कवि ही तो ठहरे। किसी के बन्धन मे थोड़े ही हैं कि हर एक विषय का नपा-तुला वर्णन करने के लिए विवश हों; और न कोई काव्य ही लिख रहे हैं, जिसके लिए उन्हे रीतिकारों का अनुशासन मानना पड़े। हितहरिवंश सम्प्रदाय के शिष्य होने के कारण देव को कृष्ण-लीला में विशेष आनन्द आना स्वाभाविक था; इसी लिए उन्होंने कृष्णपरक काव्य अधिक किया है। वास्तव में राधामाधव से बढ़कर शृंगाररस का आलम्बन विभाव बनने का और अधिकारी ही कौन हो सकता है। अतः देव के काव्य का सारा शृंगार ब्रजाधीश को ही समर्पित है। इसमें रासलीला और उद्धव-सन्देश का भी वर्णन है। यहाँ पर हम यह बात निःसंकोच भाव से कहना चाहते हैं कि न तो देव का रास वर्णन नन्ददास की रास-पंचाध्यायी से समता कर सकता

है और न इनका उद्धव-सन्देश सूरदास के भ्रमरगीत से अथवा रत्नाकर के उद्धवशतक से। देव के प्रेमी हमें इस धृष्टता के लिए क्षमा करें।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि नन्ददास ने जिस आधार पर अपनी पञ्चाध्यायी बनाई है, वह बहुत दृढ़ है। यही हाल सूरदास के भ्रमरगीत का है। यदि देव की इस विषय पर की रचनाएँ उक्त कवियों की कृतियों से टक्कर न ले सकें तो कौन सा आश्चर्य का प्रसङ्ग है। इससे देव की कीर्त्ति-कौमुदी मलिन नहीं होती। हाँ, देव ने कालिय मर्दन और गोवर्द्धन-धारण करने के प्रसङ्गों का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है। इनके वर्णन में देव ने चित्र खींच दिया है। इस वर्णन में सूर के सिवा और कोई भी कवि देव के सामने प्रतियोगिता मे नहीं ठहर सकता। यह ऐसा विषय था कि देव चाहते तो इस पर एक खण्डकाव्य लिख सकते थे, परन्तु न जाने क्यों उन्होंने खण्डकाव्य लिखने का प्रयास नहीं किया। कविसुलभ प्रतिभा का उनमे अभाव न था। विषय-वर्णन के लिए क्षेत्र भी पर्याप्त था। हाँ, मनोवृत्ति अवश्य न थी, इसका कारण देशकाल का प्रभाव था।

(७) प्रेमचन्द्रिका की रचना डौंडियाखेरा के राजा राव मर्दनसिंह के द्वितीय पुत्र उद्योतसिंह के नाम पर की गई थी। इसका विषय नामकरण के अनुकूल ही है। इसमे शृंगाररस का

रसराजत्व प्रतिपादित किया गया है। देव ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह बीसवीं शताब्दी के अर्द्धशिक्षित रसिकों का प्रेम नहीं है, जिसका आविर्भाव पूर्वानुराग मात्र से होता है प्रत्युत इनके प्रेम मे सीता और राम के उस आदर्श प्रेम की मात्रा अन्तर्हित रहती है, जिसका आश्रय लेकर आर्य-ललनाएँ अपने पतिदेव से परित्यक्त होकर भी आर्यपथ से विचलित नहीं होतीं। देव इन्द्रिय-जन्य सुख को तुच्छ समझते हैं और ऐसे प्रेम की भी निन्दा करते है। शृंगार रस को प्रधानता देते हुए भी देव उसे इन्द्रिय-जन्य लोलुपता से सदा बचाते रहे है। ग्रथ के परार्ध मे देव के विचारों में परिवर्तन सा परिलक्षित होता है। प्रेमसागर से निकलकर आप भक्ति की मन्दाकिनी में अवगाहन करते हैं। वही पुराना पेटेंट रासलीला का वर्णन होता है। फिर दो-चार भक्तों का उद्धरण दे करके ग्रंथ का अन्त किया गया है।

(८) जातिविलास की रचना अनुमानतः उस समय की गई होगी जब आजमशाह के निधन से दिल्ली-दरबार से देव का सम्बन्ध टूट गया था। इनके वर्णनों से तो ऐसा मालूम होता है कि इन्होंने भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों की यात्रा की थी; क्योंकि इसमें विभिन्न जातियों की स्त्रियों का वर्णन है। देव ने अपनी इस यात्रा में जो कुछ अनुभव किया था, उसके परिणामस्वरूप इस ग्रंथ की रचना की है। इसमे काश्मीर की किशोरी से लगाकर

कहारिन तक का वर्णन है। इसके द्वारा अधमपात्रनिष्ठ रति की ओर सकेत होता है जो विश्वनाथ के मत से शृंगार रस न होकर रसाभास का सुन्दर उदाहरण है। यों तो बेनीप्रवीन ने भी अपने नवरसतरग मे जाति जाति की दूतियों का वर्णन किया है परन्तु देव का वर्णन परम उत्कृष्ट है। इसी बात पर मिश्रवन्धुओं ने इनकी सच्चरित्रता पर संदेह किया है। परन्तु यह संदेह यथार्थ नहीं प्रतीत होता। रसिया आदमी सर्वथा चरित्रहीन नहीं हुआ करते। सूरदास ने तो राधिका का ऐसा ऐसा वर्णन किया है, जैसा देव ने नहीं किया है; परन्तु सूर पर ऐसा आक्षेप कोई नहीं करता। बेचारे नर-काव्य करनेवालों पर सभी भौंहें मरोड़ते हैं।

(६) रागरत्नाकर संगीत-ग्रंथ है। जिस प्रकार तुलसी और सूर मे संगीत और साहित्य दोनों ही कलाओं का सन्निवेश था। वैसे ही देव मे भी था। देव उच्च कोटि के कवि होने के साथ साथ संगीतज्ञ भी थे। भले ही वे तानसेन की तरह अच्छे गवैये न हों, क्योंकि गायन अभ्यास पर निर्भर है। परन्तु वे गायन के सिद्धान्त को अवश्य जानते थे। इसका प्रमाण है रागरत्नाकर, जिसमे उन्होंने रागों का सूक्ष्म विवेचन किया है। इसमे दो अध्याय हैं। पहला अध्याय दूसरे अध्याय की अपेक्षा बहुत बड़ा है। पहले अध्याय में राग और रागिनियों का वर्णन है और दूसरे में उपरागों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है। रागों के विषय में जितनी ज्ञातव्य

बातें थीं, उनका वर्णन देव ने सूत्र-रूप से सुन्दर सवैयों मे किया है। इन सवैयों में "सुरंग मैं ब्योधिनी" शब्द अधिक आया है। यह सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी, स्वरों का संकेत है।

(१०) रसविलास की रचना देव ने राजा भोगीलाल के लिए संवत् १७८३ मे की थी। इसमें अष्टांगवती कामिनी का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है इससे पहले देव भावविलास की रचना कर चुके थे। परन्तु उसके बाद भी इन्होंने उसी विषय पर दूसरा ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता समझी। बात यह है कि रीति-काल के कवि अपनी सारी प्रतिभा नायिका-भेद लिखने में ही व्यय करते थे। उनके आश्रयदाता इसी विषय पर कविता सुनना चाहते थे। इसलिए कविगण अपने आश्रय-दाताओं का मनोरंजन करने के लिए उसी विपय पर लिखते भी थे। देव ने अपनी कविता का विषय वही लिया है परन्तु वे अपनी निजी पद्धति पर चले हैं। इसके वर्णन इतने उत्कृष्ट नहीं जितने प्रेमचन्द्रिका के। इसमें कई नायिकाओं के लक्षण-उदाहरण स्पष्ट नहीं होने पाये। काव्य की दृष्टि से रचना सुन्दर है। यह ग्रन्थ देव की प्रौढ़ावस्था का लिखा हुआ है क्योंकि इसकी रचना मे भी प्रौढ़ता है।

(११) काव्यरसायन देव की रचनाओं मे सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसे 'शब्दरसायन' भी कहते है। इसकी रचना में देव कवि होकर नहीं प्रत्युत आचार्य होकर हमारे सामने आते हैं। इस

समय देव के सम्मुख केशवदास का आदर्श उपस्थित होता है। इसमें आपने शब्दशक्ति पर विचार किया है, परन्तु आपकी विचार-शैली मे विचित्रता है। संस्कृत-साहित्य में आचार्यों ने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं जिनके नाम हैं, अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। देव ने इनके साथ एक "तात्पर्य्य वृत्ति" का भी उल्लेख किया है। पाठकों की जिज्ञासा के लिए हम इस वृत्ति-विशेष की व्याख्या भी करते हैं। तात्पर्य्य वृत्ति का अर्थ है, वाक्य के भिन्न भिन्न पदों के वाच्यार्थ को एक में सम्मिलित कर देना। अतः प्रकारान्तर से यह अभिधा शक्ति ही हुई। परन्तु यह वाक्यगत है। साहित्य-वेत्ताओं के लिए यह कोई नई बात नहीं है। जिन लोगों ने न्यायशास्त्र का अध्ययन किया है, उन्हे तो यह बहुत दिनों से मालूम होगी। हाँ, जिन लोगों ने साहित्य-शास्त्र की वर्णमाला भी नहीं पढ़ी है, उनके लिए भले ही इसमे कोई नई बात हो। जहाँ अन्य आचार्यों ने नवरस की कविता बतलाई है, वहाँ देव ने छः रस मुख्य माने हैं, परन्तु रस-राज शृंगार को ही माना है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रस के सम शत्रु और मित्र भावों की कल्पना की है।

चित्रकाव्य एक ऐसा विषय है, जिसमे परिश्रम अधिक होता है। इसी लिए आचार्यों ने चित्रकाव्य की निन्दा की है। देव ने इस ग्रन्थ मे दशाङ्ग काव्य पर विचार किया है। इस समय देव सत्तर अलङ्कारों का अस्तित्व मानते थे, यद्यपि भाव-

विलास लिखते समय इन्होंने ३९ अलङ्कार माने थे। उपमा अलङ्कार का निरूपण तो देव ने बड़े विस्तार के साथ किया है, परन्तु अन्य अलङ्कारों का बहुत सन्क्षेप से। काव्य के लिए हिन्दी कवियों ने छन्द का उपयोग अनिवार्य समझा है। यदि निबन्ध छन्दोबद्ध न हो तो लोग उसका कवित्व ही स्वीकार न करेंगे। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य का रूप स्थिर करते हुए काव्य की छन्दो-बद्धता को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया। उनका कथन है कि यदि निबन्ध में काव्योचित गुण उपलब्ध हैं तो वह काव्य है, चाहे गद्य हो या पद्य। इसी आधार पर इन्होंने कादम्बरी, हर्ष-चरित एवं दशकुमार-चरित तक को काव्य के अन्तर्गत माना है। देव ने अपने पिङ्गल में छन्दों का निरूपण बड़ी सुन्दरता से किया है और दण्डक नियत एवं अनियत गणावर्ण घनाक्षरियों को भी लिखा है। चित्रकाव्य के अन्य अङ्ग मेरु, मर्कटी, पताका, नष्टोदिष्ट आदि से भी देव परिचित थे। दुर्भाग्य-वश अब तक यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। हिन्दी की उन्नति के युग में ऐसे ग्रन्थरत्न का अप्रकाशित रहना बड़े दुर्भाग्य की बात है।

(१२) सुखसागरतरंग को देव ने पिहानी-निवासी अकबरअली खाँ के लिए बनाया था। इसमें भी नायिका-भेद है। मालूम होता है, अकबरअली खाँ साहब साहित्य-प्रेमी रहे होंगे, तभी तो इन्होने इसे पसन्द किया। इसमें

पार्वती, सीता, रुक्मिणी और वृषभानुनन्दिनी के सौभाग्य का वर्णन है और फिर पञ्चमी-महोत्सव का भी उत्कृष्ट वर्णन है। वसन्त और होली पर भी एक से एक बढ़िया छन्द कहे गये हैं। मानलीला के छन्द अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। सब मिलाकर इसमें लगभग आठ सौ छन्द हैं और इतनी विस्तृत रचना मे भी कोई शिथिल छन्द देखने मे नहीं आता। हिन्दी-साहित्य मे बहुत कम ग्रन्थ इसकी टक्कर के निकलेगे। इसमे ऋतुवर्णन बड़े ठाठ से लिखा गया है।

(१३) **देवमायाप्रपंच** का नाम तो नाटक है, परन्तु यह नाटकीय कसौटी पर किसी भाँति नहीं कसा जा सकता। जिस प्रकार केशव का विज्ञानगीता और मिलटन का पैराडाइज़ लास्ट है उसी प्रकार यह भी है। इसमें सद्धर्म और माया के सग्राम का वर्णन है और जी खोलकर माया की महिमा गाई गई है। इसकी रचना देव के अन्य ग्रन्थों के समान सुन्दर नहीं है। कारण यह है कि यह देव का विषय न था। यदि इसमें भी शृंगार लिखने का अवसर होता तो देव बाज़ी मार लेते।

(१४) **प्रेमतरंग** एक छोटी पुस्तक है। इसमे तीन ही अध्याय हैं और दो सौ से अधिक छन्द नहीं है। इसमें भी नायिका-भेद ही है।

(१५) देवशतक का प्रकाशन जयपुर से हुआ है। इसमें देव की चार पच्चीसियों का सग्रह है॥ इनके नाम हैं, जगत्-

दर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी और प्रेम-पचीसी। इसकी रचना बहुत प्रौढ़ नहीं है।

(१६) **सुन्दरीसिन्दूर** संग्रह-ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्त्ता हैं बाबू हरिश्चन्द्र। इसमें एक सौ ग्यारह छन्द हैं। ये सभी मुक्तक है परन्तु हैं एक से एक बढ़िया।

(१७) **देवसुधा** भी संग्रह ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्त्ता हैं हिन्दी-साहित्य के समालोचक मिश्रबन्धु। इसमे दो सौ इकहत्तर छन्द है जो एक से एक बढ़िया हैं। इस संग्रह में कोई शिथिल छन्द है ही नहीं। पाठकों के बोध के लिए संग्रहकर्ता ने इनकी टीका भी कर दी है। यदि देव के अन्य ग्रन्थों की भी इसी प्रकार टीका तैयार हो जाय तो हिन्दी-साहित्य का भंडार भर जाय और पढ़नेवालों का अनन्त उपकार हो। साहित्यानुरागियों को चाहिए कि अब देव की रचनाओं पर प्रकाश डाले और उनके ऊपर सुन्दर सुन्दर समालोचनाएँ लिखकर जनता के सामने सुपाठ्य रूप में उपस्थित करें। सूर और तुलसी ने साहित्य-क्षेत्र में जो कीर्ति भगवान् के नाम पर कमाई है, अपनी कवित्व-शक्ति के बल से उसी कीर्ति के प्राप्त करने के अधिकारी देव है।

देव का कवित्व

काव्य क्या वस्तु है। इस पर आचार्य्यों ने भिन्न भिन्न सम्मतियाँ प्रकट की हैं। काव्य की इसी लिए कोई सर्वसम्मत

परिभाषा निर्माण करना कठिन है। अतः हम इस पर अधिक न लिखकर इतना ही विचार करके संतोष करेंगे कि कविता की कारणीभूत साधन शक्ति देव में कहाँ तक थी। शक्ति क्या है, शक्ति किसे कहते हैं इसका उत्तर देते हुए आचार्य रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में कहा है

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥

अर्थात् शक्ति उसे कहते हैं, जिसके द्वारा सुस्थिर अन्तःकरण में भाँति भाँति के वाक्यार्थों का स्फुरण हो और सरल पदों का ज्ञान हो। काव्य के लिए शक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। परन्तु साथ ही निपुणता, लौकिक वृत्ति के परिज्ञान एवं काव्यों के परिशीलन तथा काव्यज्ञ की शिक्षा के द्वारा अभ्यास की भी आवश्यकता होती है। इन्हीं के द्वारा काव्य रचना एवं उसके रसास्वादन का अनुभव करने का सामर्थ्य होता है। इसके बिना यदि काव्य-रचना असम्भव नहीं तो दुरूह अवश्य है। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने उसका हेतुनिरूपण करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

इसका समर्थन कुवलयानन्दकार ने भी किया है। वे प्रतिभा पर अधिक ज़ोर देते हैं। प्रतिभा नव-नव उन्मेषशालिनी बुद्धि को कहते हैं। उनका कथन है

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितांप्रति ।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमालालतामिव ॥

अप्पयदीक्षित

दीक्षितजी के मत का समर्थन करते हुए श्रीयुत विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर कहते है कि काव्य के लिए विद्वत्ता और निपुणता उतनी आवश्यक नहीं है जितनी प्रतिभा। परन्तु आचार्य दण्डी कहते हैं कि सारासार ग्रहण और त्याग में निपुणता अधिक काम देती है। शक्ति का कार्य वहीं समाप्त हो जाता है, जहाँ हृदय मे शब्द और अर्थ का सन्निधान होता है। निष्कर्ष यह कि काव्य के लिए शक्ति, प्रतिभा और निपुणता तीनों की आवश्यकता है और इससे बढ़कर आवश्यकता है काव्य-शास्त्र के अभ्यास की।

तत्र शक्त्यां शब्दार्थौ मनसि सन्निधीयते ।
सारासारग्रहणनिरासौ व्युत्पत्त्या क्रियते ॥

काव्यादर्श

जब हम देव की प्रतिभा और शक्ति पर विचार करते हैं तो हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि यह शक्ति उनमें पूर्णतया विद्यमान थी; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो सोलह वर्ष की अवस्था मे 'भाव-विलास' ऐसे उत्कृष्ट रीति-ग्रन्थ की रचना कैसे की जा सकती थी। लोक-व्यवहार-नैपुण्य भी उनमें उत्कृष्ट क़ोटि का था। वे वस्तु का सम्यक् निरीक्षण किया करते थे। आज़मशाह के दरबार से अलग होकर उन्होंने एक लम्बी यात्रा

की थी। इस यात्रा में उन्हें भारत भर में भ्रमण करना पड़ा था। इससे उन्होंने प्रत्येक जाति, देश और श्रेणी की स्त्रियों का जैसा निरीक्षण किया था, उसके अनुभव-स्वरूप 'रस-विलास' नामक ग्रन्थ तैयार किया। देव के इस अबला-प्रकृति-निरीक्षण को लोग चाहे जिस दृष्टि से देखें, परन्तु उसमें कुछ तत्त्व भी है।

देव ने शृंगार-रसमयी कविता अधिक की है। यद्यपि कवि के नाते उन्हे नवों रस लिखना चाहिए था। बात यह है कि रीति-काल के बहुतेरे कवियों ने शृंगार रस के ही लिखने में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है। फिर देश-काल के प्रभाव से देव कैसे वंचित रह सकते थे? वह समय ही ऐसा था जब लोगों को आचार्य बनने की धुन थी, कवि बनने की नहीं। इसी लिए उस काल की रचना रीति-बद्ध है।

शृंगार-रस को कवियों ने रसराज माना है। देव भी इसके विशेष रूप से समर्थक हैं। शृंगार रस के स्थायी भाव में जैसी सुकुमारता, स्वाभाविकता एवं व्यापकता है, वैसी अन्य रसों के स्थायी भावों मे नहीं। यदि विचार करके देखा जाय तो दाम्पत्य-प्रेम मे प्रकृत पुरुष के पुनीत प्रेम का प्रतिबिंब परिलक्षित होता है। इसके आलम्बन-विभाव मे समान आकर्षण है। इसके उद्दीपन-विभाव भी एक से एक सुन्दर हैं। प्रेम का वर्णन केवल हिंदी-साहित्य मे ही नहीं है, प्रत्युत इसकी छाया विश्व-साहित्य मे देखी जा सकती है। धार्मिक ग्रन्थों में भी इसका आभास मिलता है। बड़े बड़े कवियों ने इसी का वर्णन करके प्रतिष्ठा प्राप्त की

है और कविवर कालिदास कालिदास हो गये हैं। महापुरुषों ने दाम्पत्य प्रेम को मानव-समाज के विकास का एक उपयोगी साधन बतलाया है।

देव ने स्वकीया के प्रेम को श्रेष्ठ बतलाया है। कविता के आचार्यों ने जिन जिन गुणों की आवश्यकता बतलाई है, उन सबके उदाहरण देव की शृंगारिक रचनाओं से दिये जा सकते हैं।

कविता का काम लोकोत्तर आनन्द प्रदान करना है, केवल उपदेश देना ही नहीं। उपदेशकों को कवि मानना भी एक प्रकार की भूल है। हम व्यक्तिगत रूप से कबीर और नानक को कवि मानने के लिए तैयार नहीं; क्योंकि उनकी रचनाएँ कोरे उपदेश हैं। वे काव्य की उन कसौटियों पर नहीं कसी जा सकतीं, जिनका विधान अलङ्कारशास्त्रियों ने अपने रीतिग्रन्थों में किया है। आज-कल शृंगाररस के विरुद्ध जो सामाजिक सग्राम हो रहा है, उससे हम सहमत नहीं। परन्तु साथ ही हम कुरुचिपूर्ण साहित्य-निर्माण के भी विरोधी हैं। कवि को समाज के प्रत्येक अंग के चित्र चित्रित करने पड़ते हैं। जिस प्रकार वह वेश्या का चित्र चित्रण करता है, उसी प्रकार स्वकीया का। कवि भी नीति का उपदेश देता है, परन्तु उसके उपदेशों मे कुछ और ही माधुर्य रहता है। सारी कविताएँ उपदेशपूर्ण ही नहीं हुआ करतीं। उपदेशरहित कविता भी कविता हो सकती है, यदि उसमें काव्योचित गुणों का सन्निवेश

की थी। इस यात्रा में उन्हें भारत भर में भ्रमण करना पड़ा था। इससे उन्होंने प्रत्येक जाति, देश और श्रेणी की स्त्रियों का जैसा निरीक्षण किया था, उसके अनुभव-स्वरूप 'रस-विलास' नामक ग्रन्थ तैयार किया। देव के इस अबला-प्रकृति-निरीक्षण को लोग चाहे जिस दृष्टि से देखें, परन्तु उसमें कुछ तत्त्व भी है।

देव ने शृंगार-रसमयी कविता अधिक की है। यद्यपि कवि के नाते उन्हें नवों रस लिखना चाहिए था। बात यह है कि रीति-काल के बहुतेरे कवियों ने शृंगार रस के ही लिखने में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है। फिर देश-काल के प्रभाव से देव कैसे वंचित रह सकते थे? वह समय ही ऐसा था जब लोगों को आचार्य बनने की धुन थी, कवि बनने की नहीं। इसी लिए उस काल की रचना रीति-बद्ध है।

शृंगार-रस को कवियों ने रसराज माना है। देव भी इसके विशेष रूप से समर्थक हैं। शृंगार रस के स्थायी भाव में जैसी सुकुमारता, स्वाभाविकता एवं व्यापकता है, वैसी अन्य रसों के स्थायी भावों में नहीं। यदि विचार करके देखा जाय तो दाम्पत्य-प्रेम में प्रकृत पुरुष के पुनीत प्रेम का प्रतिबिंब परिलक्षित होता है। इसके आलम्बन-विभाव में समान आकर्षण है। इसके उद्दीपन-विभाव भी एक से एक सुन्दर हैं। प्रेम का वर्णन केवल हिंदी-साहित्य में ही नहीं है, प्रत्युत इसकी छाया विश्व-साहित्य में देखी जा सकती है। धार्मिक ग्रन्थों में भी इसका आभास मिलता है। बड़े बड़े कवियों ने इसी का वर्णन करके प्रतिष्ठा प्राप्त की

है और कविवर कालिदास कालिदास हो गये हैं। महापुरुषों ने दाम्पत्य प्रेम को मानव-समाज के विकास का एक उपयोगी साधन बतलाया है।

देव ने स्वकीया के प्रेम को श्रेष्ठ बतलाया है। कविता के आचार्यों ने जिन जिन गुणों की आवश्यकता बतलाई है, उन सबके उदाहरण देव की शृंगारिक रचनाओं से दिये जा सकते हैं।

कविता का काम लोकोत्तर आनन्द प्रदान करना है, केवल उपदेश देना ही नहीं। उपदेशकों को कवि मानना भी एक प्रकार की भूल है। हम व्यक्तिगत रूप से कबीर और नानक को कवि मानने के लिए तैयार नहीं; क्योंकि उनकी रचनाएँ कोरे उपदेश हैं। वे काव्य की उन कसौटियों पर नहीं कसी जा सकतीं, जिनका विधान अलङ्कारशास्त्रियों ने अपने रीतिग्रन्थों में किया है। आज-कल शृंगाररस के विरुद्ध जो सामाजिक सग्राम हो रहा है, उससे हम सहमत नहीं। परन्तु साथ ही हम कुरुचिपूर्ण साहित्य-निर्माण के भी विरोधी है। कवि को समाज के प्रत्येक अंग के चित्र चित्रित करने पड़ते हैं। जिस प्रकार वह वेश्या का चित्र चित्रण करता है, उसी प्रकार स्वकीया का। कवि भी नीति का उपदेश देता है, परन्तु उसके उपदेशों में कुछ और ही माधुर्य रहता है। सारी कविताएँ उपदेशपूर्ण ही नहीं हुआ करतीं। उपदेशरहित कविता भी कविता हो सकती है, यदि उसमें काव्योचित गुणों का सन्निवेश

हो। कविता के लिए जितनी आवश्यकता रस-परिपाक की है, उतनी उपदेशों की नहीं। हमारे विचार से उपर्युक्त आदर्शवादिता के फेर मे पडकर ललित कला का संहार करना कदापि उचित नहीं।

कविता का प्रधान गुण भाव है और गौण शब्द-सौन्दर्य है। शब्द-माधुर्य इसी परिधि के अतर्गत आ जाता है, इसलिए हमे कविता की मीमांसा करते समय इस बात पर दृष्टि रखनी चाहिए कि इसमे भावों का सामंजस्य कहाँ तक है। शब्द-माधुर्य व्रजभाषा का एक अगीभूत गुण है। व्रजभाषा मे कविता करने का जिन्हे अभ्यास है, उन्हे माधुर्य गुण लाने के लिए बहुत भटकना नहीं पड़ता। वह आप ही आप उनकी रचना मे आ जाता है। जब हम देव की कविता पर विचार करते है, तब हमे विदित होता है कि इसमे माधुर्य गुण का आधिक्य है। कारण यह है कि सबकी सब विशुद्ध, परिमार्जित और परिष्कृत व्रजभाषा मे है। इसके अधिकांश छन्दों में कोमल कान्त पदावली उपलब्ध है। कहना न होगा कि माधुर्य का कविता के साथ अंग-अंगी सम्बन्ध है। जो लोग सोचते हैं कि माधुर्य से कविता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, हमारी राय मे वे भूल करते हैं।

जहाँ देवजी काव्यशास्त्र के पारगामी पंडित थे, वहाँ वे सगीतशास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। यदि ऐसा न होता तो राग-

रत्नाकर ऐसे सुन्दर ग्रन्थ की रचना करने में वे कभी समर्थ न होते। इसमें रागों और रागिनियों का शास्त्रीय विवेचन है। देव संगीतशास्त्र की पद्धति से परिचित थे। यह बात और है कि वे तानसेन के समान गवैये न हों। सम्भव है कि संगीत की ओर उनकी अभिरुचि स्वभाव ही से हो या सम्पन्न पुरुषों की संगति में रहने से इसका प्रादुर्भाव हुआ हो। देव राजदरबारों में रह चुके थे। उस समय के राजा संगीत और साहित्य दोनों का समान आदर करते थे। दरबारी के लिए तत्कालीन प्रथा के अनुसार संगीत जानना कुछ आवश्यक सा था।

देव ने अपनी कविता में प्रेम का वर्णन ख़ूब किया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे केशव के समान रसिक पुरुष थे। उनमें स्वाभिमान और गुणग्राहिता की भी मात्रा अधिक थी। देव को सौभाग्यवश हिन्दू और मुसलमान दोनों राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ था। परन्तु मुसलमान आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने कभी भाषा का रूप नहीं बिगाड़ा।

देव का साहित्यिक परिज्ञान भी बहुत चढ़ा-बढ़ा था। आयुर्वेद और ज्योतिषशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने अपनी कविताओं में बड़ा ही सुन्दर सन्निवेश किया है। पुराण-साहित्य में भी उनकी अप्रतिहत गति थी। देवचरित्र के अनुशीलन से विदित होता है कि वे इतिहासज्ञ भी थे। न्याय और नीति से भी आप अवगत थे और वेदान्ती भी अवश्य

रहे होंगे; क्योंकि विना इसके नीति और वैराग्यशतक ऐसे ग्रन्थों का निर्माण करना कठिन था।

देवजी मे पर्याप्त मौलिकता भी थी। यद्यपि उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह एक वँधी हुई पद्धति के अनुसार नायिका भेद पर लिखा है, परन्तु उसमे भी विलक्षणता है। नायिकाओं का वर्गीकरण देव ने अपने निजी ढंग पर किया है। उन्होंने छन्दःशास्त्र और चित्र काव्य पर भी लिखा है। कवि-कर्तव्यवश वे ऐसा करने के लिए विवश थे, अन्यथा वे चित्रकाव्य के समर्थक न थे। परकीया के प्रेम को भी वे प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखते थे, पर उसका वर्णन उन्होंने बडे ही अच्छे ढंग पर किया है।

देव की कविता में स्वाभाविकता अधिक है। हमारी राय से स्वाभाविकता अतिशयोक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है यद्यपि साहित्यानुरागी अतिशयोक्ति को अधिक गौरव देते हैं। यह तो अपनी अपनी अभिरुचि पर निर्भर है।

देवजी सर्वपार्थीन प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। आपने अपने समय की सभी प्रमुख शैलियों में कविता की है। नीति और वैराग्य सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे है और यहाँ तक कि एक नाटक भी लिखा है, यद्यपि यह नाटक किसी भी नाटकीय कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। पिंगल के भी आप पूर्ण रूप से ज्ञाता प्रतीत होते है। आपने ३० से लेकर ३४ वर्ण तक की घनाक्षरी लिखी हैं और कई अन्य छन्दों में भी इसी प्रकार अपना

व्यक्तित्व दिखलाया है। आपकी उक्तियाँ बड़ी सरस हैं और उपमाएँ भी अपूर्व हैं। नायिकाभेद के तो आप आचार्य ही थे; क्योंकि शृंगार ही को आपने रसराज माना है। साथ ही साथ आपके नख-शिख और ऋतु वर्णन भी अपूर्व हैं। आपकी भाषा बड़ी प्रौढ़ है। पदचयन आपका नितान्त कोमल और मधुर है। मिलित वर्ण और कर्ण-कटुता तो उनसे कोसों दूर है। शब्दकोश भी आपका बहुत विशद है। इसलिए आपने जैसा भी अन्त्यानुप्रास लिया, उसका सुन्दर निर्वाह करके दिखलाया। वाक्य-विन्यास नितान्त सुन्दर है। भाषा और भावों का मनोहर सामञ्जस्य है। रूपक तो आपका नितान्त मनोरम हैं। हाँ, कहीं-कहीं शब्द अवश्य तोड़े गये हैं। इसका कारण अनुप्रास की दुरूहता है।

देव को सानुप्रास रचना बहुत पसन्द थी। इसी लिए उन्हे कभी-कभी शब्दों का अङ्ग-भङ्ग भी करना पड़ता था। इसका परिणाम यह है कि उनकी भाषा में स्निग्ध प्रवाह न आ सका। कहीं-कहीं भाषा भावों का साथ भी नहीं दे सकी है। अक्षर-मैत्री जोड़ने की रुचि में आकर देव कहीं-कहीं अशक्त पदों का प्रयोग भी कर गये हैं। इससे कहीं कहीं वाक्य भी अविन्यस्त हो गये हैं; परन्तु इसके साथ ही साथ जहाँ पर भाषा ने भावों का साथ दिया है, वहाँ पर इनकी रचना बड़ी सुन्दर हुई है। इसी लिए आलोचकों ने देव को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है। श्री मिश्र-बन्धुओं की सम्मति सर्वथा माननीय

है कि जिस साहित्य-क्षेत्र मे सूर, तुलसी सूर्य्य और चन्द्रमा के समान माने गये हैं, उसी में देवजी व्योममंडल के समान है। जहाँ तक साहित्यशास्त्र का संबंध है और पार्थिव उक्तियों और कल्पना की उड़ान का प्रश्न है, देव बहुत ऊँचे उठे हुए कवि है।

भावसाम्य

साहित्य के समालोचकों ने मौलिक रचनाओं की प्रशसा की है, परन्तु इस मौलिकता का निर्वाह काव्यक्षेत्र मे कहाँ तक किया जा सकता है, यह बात विचारणीय है। हमारा तो अनुमान है कि सर्वप्रथम रचना भले ही मौलिक कही जा सके; परन्तु उसके बाद की रचना में किसी न किसी रूप मे उसकी छाया अवश्य देखने मे आवेगी। इससे कोई महानुभाव यह कल्पना न कर बैठे कि हमे आजकल की किसी रचना मे मौलिकता ही नहीं दृष्टिगोचर होती। मौलिकता की भी एक अलग माप है।

परवर्ती कवि अपने पूर्ववर्ती सहयोगी की रचनाओं से अवश्य प्रभावान्वित होता है और उसके अध्ययन का फल यह होता है कि उसकी कविता के भाव उसके हृदय-पटल पर अङ्कित हो जाते है। उनका संस्कार इतना दृढ़ जम जाता है कि जब वह लिखने बैठता है, तब उसके हृदय मे वही भाव उठने लगते हैं और कभी-कभी वह उन्हीं के अनुसार अपनी रचना

भी कर डालता है। ऐसी रचना की गणना भावसाम्य की परिधि के अन्तर्गत की जाती है।

भाव-ग्रहण करना कोई चोरी का काम नहीं है। यदि यह भी चोरी मानी जाय तो तुलसी, सूर, केशव, कालिदास और श्रीहर्ष तक इस अभियोग से मुक्त नहीं हो सकते। हमने अपने तुलसी-तरङ्ग, सूर-संग्रह और केशव-कल्पद्रुम मे इसके अनेक उदाहरण दे रक्खे हैं। जिन महानुभावों को भाव-ग्रहण की छटा देखनी हो वे हमारी उपर्युक्त रचनाओं मे देखने की कृपा करें। तब तो उन्हें इस बात का विश्वास हो जायगा कि जिस प्रकार चित्त की चोरी कोई चोरी नहीं मानी जाती, वैसे ही भाव-ग्रहण भी कोई चोरी नहीं है। चित्त की चोरी और कविता की चोरी सदा से होती आई है और सम्भवतः होती भी रहेगी। यदि पहले ऐसा न होता तो श्रीयुत अभिनवगुप्ताचार्य को अपने "ध्वन्यालोक" में इसके समर्थन में अधोलिखित व्यवस्था न देनी पडती

यदपि तदपि रम्य यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति।

इसी प्रकार अँगरेजी साहित्य के आलोचकों ने भी कहा है। उनका निष्कर्ष यह है कि भाव किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति

नहीं हैं। जो कवि उनको सुन्दरता-पूर्वक व्यक्त कर सकेगा, उसी के वे कहलाएँगे। भावों का ग्रहण करना बुरा नहीं है। हाँ, उनको लेकर बिगाड़ना अवश्य अपराध है। जहाँ तक उसकी रक्षा हो सके वहाँ तक अच्छा है और यदि कवि अपनी प्रतिभा के बल पर उसे और भी माँज दे तो क्या कहना है! बात तो तभी है कि जिस भाव को ग्रहण किया जाय उसको ऐसी सुन्दरता से व्यक्त किया जाय कि उस पर अपनी मुद्रा अङ्कित हो जाय और वह चमकने लगे। यदि कवि प्रतिभा-सम्पन्न है तो हमारा विश्वास है कि वह जिस भाव को ग्रहण करेगा उसमें नूतनता लाकर उपस्थित करेगा, जिससे समझनेवालों को इस बात के कहने का साहस किसी तरह न हो सकेगा कि यह भाव अन्य कवि का है। उदाहरण के लिए हम यहाँ पर कविवर दास का एक छन्द भाव-ग्रहण के विषय पर उपस्थित करेंगे। पाठक देखें कि यह अपने मौलिक आधार से उत्कृष्ट है या नहीं।

कवियों और तुक्कड़ों मे बहुत दिनों से संघर्ष चला आता है और कदाचित् यह सदा रहेगा भी। कवि संसार को शान्ति और क्षमा का उपदेश दे सकता है, परन्तु वह तुक्कड़ की धृष्टता को कभी सहन नहीं कर सकता। सामान्य कवियों की तो कोई बात ही नहीं है, गोस्वामी तुलसीदास ऐसे वीतराग महाकवि भी तुकड़ों की धृष्टता से रुष्ट होकर अन्त में कहते ही हैं

खल उपहास होय हित मोरा।
काग कहहिं कल कठ कठोरा॥

इसी बात को कविवर दास और ही प्रकार से कहते हैं। उन्होंने अपने छन्द का भाव कविवर राम से लिया है; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दास की रचना उससे कहीं उत्कृष्ट है। देखिए

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता,
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ,
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः॥
राम कवि

जुगनू भानु प्रभान के सामुहे, आपनी जोतिन को जस गैहै।
माखिहु जाय खगाधिप सौं, उडिबे की बड़ी बडी बात बनैहै॥
दास जुपै तुक जोरनहार, कविन्द उदारन की सरि पैहै।
तौ करतार सौं और कुम्हार सौं, एक दिना झगरौ बढ़ि जैहै॥
दास

१ रीतिकाल के कवियों ने अपनी सारी प्रतिभा नायिका-भेद के लिखने में लगा दी है। इन कवियों को अबला-प्रकृति-निरीक्षण का न जाने कितना अनुभव था। स्त्री के हृदय का कोई ऐसा विकार नहीं है, जिसकी इन्होंने मीमांसा न की हो। कहाँ तक कहें, स्त्रियो के सम्बन्ध की कोई ऐसी

बात नहीं है जिस पर इन्होंने प्रकाश न डाला हो। शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका-भेद का विषय वास्तव में रीतिकाल के कवियों के अवला प्रकृति-निरीक्षण का ज्वलन्त उदाहरण है।

एक स्त्री अपने घर में बैठी थी। नाइन उसको स्नान कराने के लिए आई। उसके अङ्ग की स्वाभाविक सौन्दर्यजनित लालिमा ईंगुर के रङ्ग को भी मात करनेवाली थी। उसको देखकर नाइन को आश्चर्य होने लगा और वह चुपचाप उसकी एड़ी से चोटी तक के सौन्दर्य को देखती रही। नाइन की यह चेष्टा देखकर उस स्त्री को भी हँसी आ गई। इस भाव को कविवर देव ने कैसी सुन्दरता से अङ्कित किया है।

आई हुती अन्हवावन नायन, सौंधे किये पग सूधे सुभायनि।
कचुकी खोलि धरी उबटैबे को, ईंगुर के रंग सी सब ठायनि॥
'देवजू' रूप की रासि निहारत, पायँ ते सीस लौं सीस ते पायनि।
ह्वै रही ठौरहि ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोढ़ी दिये ठकुरायनि॥

कविवर बिहारीलालजी इस भाव पर इससे पहले लिख चुके थे। उनके दोहे की जैसी प्रशंसा संजीवनभाष्यकार श्रीयुत पं० पद्मसिंह शर्मा ने की है वह यथार्थ है। बिहारी के दोहे देखिए

कोहर सी एडीन की, लाली देखि सुभाय।
आई जावक देन कौं, आपु भई वेपाय॥१॥
पायन जावक देन कौ, नायन बैठी आय।
पुनि पुनि जानि महावरी, एडिहिं मींड़त जाय॥२॥

नायिका की एडियों की स्वाभाविक लालिमा के विषय में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है। और कवियों ने भी इसी भाव पर लिखा है; परन्तु वे बिहारी को नहीं पाते। वास्तव मे बिहारी का और ही वैदग्ध्य है।

कुछ नमूने और भी देखिए

नायन पायन जावक देन कौ, प्रात प्रिया ढिग आई उतावरी।
लाड़िली के ढिग बैठि हरे, सुख सों पद-कज गहे सुचि भाव री॥
लै नवला पग को कर पै, अरु सो 'रसिकेस' न भेद लखावरी।
लाली बिलोकि थकी थिर ह्वै, तिय एडियै मींड़ति जानि महावरी॥

रसिकेश

रही पूजिवे कौ पचनी घर मैं, नव नागरि पै वह आय गई।
पग धोय गुलाब के झायनि सौं, दोउ एडिन ही कौ सुखाय रही।
कर कंज पै जावक धारि कै नारि, लगाइबे कौ मन लाय रही।
ठकुराइनि के लखि पायनि कौं, मति नायनिया की हेराय रही।

सेवक

मंद ही चपे ते इन्द्रवधू के बरन होत,
प्यारी के चरन नवनीत हू ते नरमैं।
सहज लुनाइ जिनकी विलोकि 'कासीराम',
औरन की कहा कविहू की मति भरमै॥
एड़ी ठकुरायनि की नायनि गहत जब,
कोहर सौ रंग दौरि जात दरबर मैं।

दीनी है कि दीवे है विचारै सोचै वार-बार,
वावरी सी ह्वै रही महावरी लै कर मैं ॥
काशीराम

नायिका के सौकुमार्य का ऐसा सुन्दर वर्णन देखकर भला कविवर दास से कैसे रहा जाता ? ऐसे ललित भाव को ग्रहण करने का लोभ सवरण कर सकना भी एक बडी बात है। दास का भी एक छन्द देखिए

आरज आवन दासी कह्यो, उठि बाहर तें गई भीतरै प्यारी।
त्यों महि पै पग धारत ही, दोऊ एँड़िन छाय रही अरुनारी॥
जावक दीन्ह्यो कि दीन्ह्यो नहीं, सो विलोकि विलोकि कै नाइनि हारी।
प्यारी कही अरी दाहिनै दै, मोहि जानि परै पग बाम है भारी॥

इस सौकुमार्य का भी कोई ठिकाना है। पृथ्वी पर पैर धरते ही एँडी इतनी लाल हो जाती है कि बेचारी नाइन को वार वार देखने पर भी इस बात का पता नहीं लगता कि इसमें जावक दिया है अथवा नहीं। उसको इस प्रकार किं-कर्तव्यविमूढ देखकर ठकुराइन बतलाती है कि देख दाहिने पैर मे जावक दे, इसमें नहीं लगा है। इसका कारण यह है कि यह वाये पैर की अपेक्षा कुछ हल्का है। और वह जावक लगने के कारण भारी है। धन्य है दासजी की विदग्धता और पैनी दृष्टि ।

ये सव छन्द प्रायः एक ही भाव पर लिखे गये है, परन्तु इन सव की विशेपता और सौंदर्य अलग-अलग हैं। संचारी भावों

की भिन्नता के कारण इन सबमे अपना निजी सौन्दर्य आ गया है। देवजी का छन्द तो अपूर्व है ही और बिहारी के विषय मे जो कुछ कहना था उसे पडित पद्मसिहजी कह ही चुके। हाँ, यहाँ दासजी के विषय में इतना ही कह देना है कि यह छन्द भी अपने ढंग का निराला है और इसमे अन्य कवियो की रचनाओं की अपेक्षा साहित्य-सौंदर्य की किसी प्रकार न्यूनता नहीं होने पाई है।

२ नायिका के गात्रों मे स्वाभाविक सौन्दर्य का स्थायी निवास होता है। मधुर आकृतियों को मंडन (शोभा-सामग्री) से कोई विशेष लाभ नहीं, तथापि इन मडनों के रंगों में उसकी गात्रप्रभा के कारण परिवर्तन उपस्थित होते ही रहते हैं। तद्गुण अलकार का आश्रय लेकर कवियों ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। कविवर देव का वर्णन देखिए

नीचे को निहारत, नगीचे नैन, अधर,
 डुबीचे पर्‌यो स्यामारुन आभा अटकन को।
नीलमनि भाग ह्वै पद्‌मराग ह्वै कै,
 पुखराज ह्वै रहत बिध्यो छ्वै निकट कन को।
'देव' बिहँसत दुति दंतन जुडात जोति,
 विमल मुकुत हीरालाल गटकन को।
थिरकि-थिरकि थिर, थाने पर थाने तोरि,
 बाने बदलत नट मोती लटकन को॥

इसी भाव पर दास की कारीगरी देखिए

पन्ना संग पन्ना ह्वै प्रकासित छनक लै,
कनक-रंग पुनि ये कुरगनि पलतु है।
अधर ललाई लावै लाल की ललकि पाय,
अलक फलक मरकत सो रलतु है।
ऊदो-अरूनो है, पीत-पट लहरौहै ह्वै कै,
दुति लै दोऊ को 'दास' नैननि छलतु है।
समरथु नीके बहुरूपिया लौं तहाँ ही मैं,
मोती नथुनी को बर वानो बदलतु है॥

अब इसी सम्बन्ध मे बिहारी की बहुज्ञता देखिए

अधर धरत हरि के परत, ओंठ-दीठि पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष-दुति होति॥

बिहारी ने क्या ही सुन्दर इन्द्रधनुष देखा है। पावस-कालीन आकाश का इन्द्रधनुष इसकी क्या समता कर सकता है। यह धनुष तो भगवान् कृष्ण की मंजुल मुरलिका और ओठों के सयोग से बना है।

अब सेवक की सौम्यता देखिए

देखे सुगन्धित बेले के दंत, भये कर लेत जपादल वैसे।
त्यों महि डारे परे पग पीठ, धरे रग सोनजुही महँ जैसे॥
'सेवक' हाँसी लगी उलझारि, निहारि लखे पै लगे सबै लैसे।
टोने किये किधौ लोने अबै पै, दिये नये मालिन फूल धौं कैसे॥

यह मुग्धा का वर्णन है। कोई मुग्धा एक दिन अपनी वाटिका मे टहलने के लिए गई। मालिन ने उसे श्वेत पुष्प लाकर दिये। वे फूल वेले के थे; क्योंकि उनमे वेले की सुगन्ध आ रही थी। परन्तु ज्योंही वे मुग्धा के करसम्पुट मे रक्खे गये, त्योंही हथेली की अरुणता के कारण जपापुष्प के समान दिखलाई पड़ने लगे। अजलि मे पुष्प डालते समय कुछ तो उसके पैर और पृथ्वी पर पडे थे, वे उनमे स्वर्णजुही के फूलो के समान दिखलाई पडने लगे। एक ही प्रकार के फूलों को कई प्रकार के रगों में देखकर मुग्धा को कौतूहल होना स्वाभाविक था। उसने तत्काल अपनी अंजलि के फूलों को, वास्तविक रहस्य जानने के लिए, उलझाया तो फिर वे ज्यों के त्यों दिखलाई पडने लगे। परन्तु सम्पुट मे आते ही आते फिर लाल हो गये। विलक्षण व्यापार था। मुग्धा को सन्देह हो गया कि अवश्य इन फूलों मे कोई जादू किया गया है। कैसा ललित भाव है। पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है।

बाग में ठाढ़ी सुहाग भरी, अनुराग सों कान करै चहुँ फेरै।
मालिनि माल दई मुहि ल्याय, बढ़ी रुचि यों गर मैं कछु गेरै॥
'सेवक' दीठि फिराय रिसाय, कही पुनि ल्याई यथा रुचि तेरे।
दीन्हीं जुही की हमे कहि कै, सबै सोनजुही की कहैं गर मेरे॥

सेवक

काल्हि ही गूँधि बबा की सौं मैं, गज-मोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते इहाँ पुखराग की? सग सई यमुना तट बाला॥

साथे महावर पाँय को देखि, महावर पाप सुढार ढुरीपै।
ओठन पैठ नवै अँखियाँ पिय के हिय पैठन पीक धुरीपै।
संग ही संग वसौ उनके, अँग अंगनि 'देव' तिहारे लुरीपै।
साथ मैं राखिए नाथ! उन्हें, हम हाथ में चाहती चारि चुरीपै।

देव।

इसी भाव पर निम्नलिखित छन्द भी कहा गया है।

भावै जितै उत ही रहौ नाथ! पुजावौं सवै अभिलापनि ही के।
रंचक नेह सौं मोहि निहारि, रहौ चहै संग वहै युवती के।
केवल चाहियै मोहि सुहाग, लला सुनो साँचे मनोरथ जी के।
मेरे रहौ चहै वाके रहौ, पै जितै रहौ लाल रहौ तुम नीके।

अज्ञात कवि

मतिराम का भी एक छन्द इसी भाव पर है। उन्होंने इस भाव को कैसे व्यंग के साथ व्यक्त किया है। सापराध पति के लिए कितना सुन्दर व्यङ्ग है।

कोउ नहीं बरजै मतिराम, रहौ उत ही जित ही मन भायो।
नाहक सौंहैं हजार करौ, तुम तो कतहूँ अपराध न ठायो॥
सोवन दीजै न दीजै हमैं दुःख, काहे वृथा रस वाद वढ़ायो।
मान ही नाहीं रह्यो मनमोहन, मानती होय सो मानै मनायो॥

यद्यपि यह वर्णन खण्डिता का न होकर मानवती का है, तथापि वड़ा ही सुन्दर है। इसमे मतिरामजी की मुद्रा स्पष्ट रूप से अङ्कित है।

४ स्त्रियों में उत्सुकता और जिज्ञासा की मात्रा बहुत अधिक हुआ करती है। किसी अपूर्व बात की भनक इनके कान में पड़ जाय, तो ये जब तक उसका पूरा रहस्य न जान लेंगी तब तक इन्हे चैन न आयेगी। क्या करें बेचारी अपने स्वभाव से विवश हैं। लाख अपने चित्त की वृत्ति को दबावें पर वह दबाये नहीं दबती। सड़क पर यदि कोई ढोल बजाकर कुछ गाते हुए निकले और उसका शब्द स्त्रियों के कानों मे पड़ जाय तो वे अपना आवश्यक कार्य छोड़कर उसे देखने अवश्य आवेंगी और जब तक वे उसके विषय मे कुछ जान न लेंगी, तब तक उनका कौतूहल शान्त न होगा।

भगवान् कृष्ण ने वंशी बजाई। उस वंशीरव में ऐसा आकर्षण था कि ध्यानावस्थित मुनियों तक की समाधि छूट जाया करती थी। फिर गृह में रहनेवाली गोपियों का क्या हाल हो सकता है, यह पाठकों के लिए अनुमान करने की बात है। देव ने इसका चित्रण निम्नलिखित छन्द में किस सुन्दरता के साथ किया है

घोर तरुनीजन विपिन तरुनी जन ह्वै,
निकसीं निसक निसि आतुर अतंक मैं।
गनैं न कलक मृदु लकनि मयंकमुखी,
पंकज-पगन धाईं भागी निसि-पंक मै॥
भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल 'देव',
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि बंक मैं।

चूल्हे चढ़े छाड़े उफनात दूध - भाँड़े उन,
सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परयंक मै ॥

भगवान् के वंशीरव मे ऐसा ही आकर्षण होना चाहिए, जिसे सुनकर फिर तन्मयता हो जाय।

मुरली सुनत बाम काम - जुर - लीन भईं,
धाईं धुरलोक सुनि विधी वुधुरनि सों।
पावस न, दीसी यह पावस नदी सों, फिरैं,
उमड़ी असंगत तरंगित उरनि सों ॥
लाज काज, सुख साज, बंधन समाज नाँघि,
निकसी निसक, सकुचै नहीं गुरनि सों।
मीन ज्यों अधीनी गुन कीनी खैचि लीनी 'देव',
वंसी वार बसी डार वंसी के सुरनि सों ॥

देव

मुरली के विषय मे महाकवि सूरदासजी ने बहुत कुछ लिख रक्खा है, जिसकी टक्कर की रचना अन्यत्र मिलनी कठिन है। इसमे अवलाओं का औत्सुक्य बड़ी मार्मिकता से दिखलाया गया है।

वामन अभी वालक हैं। उनका यज्ञोपवीत हो चुका है। कश्यप ने उन्हे विद्याध्ययन कराना आरम्भ कर दिया। जिस समय वह सामगान करने लगते है, उस समय देवदाराओं की क्या दशा होती है, इसका वर्णन निम्नलिखित छन्द में किया गया है।

वीनें गहैं सुर सुन्दरी त्यों कुसुमावली टूटैं मन्दारनि दाम की ।
बावरी कोऊ की बनि जाय नहीं रहि जाय तिया कोऊ काम की ॥
कैसे हू मानै मनायें नहीं बिसरै सुधि हू बुधि यों सुरबाम की ।
सिन्धु में तुङ्ग तरङ्ग उठैं जबै गावन लागैं रिचा सिसु साम की ॥
कजरा दृग एक ही दीन्हे कोऊ कोउ केस कलाप सँवारति आवै ।
पग एक ही मैं कोऊ जावक दै वसुधा अरुनारी बनावति आवै ॥
गयो छोर छरा को हेराय कहूँ तिय सारी सुरङ्ग दबोवत आवै ।
कर-कंज मे तागरी टूटी लिये मुकता मही पै बिथुरावत आवै ॥

इस विषय पर कवि-कुल-कुमुद-कलाधर श्री कालिदासजी ने ऐसा सुन्दर लिखा है कि वैसा लिखने का अन्य किसी कवि को सामर्थ्य नहीं हुआ। शंकर की बरात हिमवान् के नगर तक पहुँच गई और बाजे का शब्द स्त्रियों के कानों मे पड़ा, फिर क्या था, लगीं सब अपने अपने काम छोडकर दौड़ने। इसका वर्णन कालिदास ने कुमारसंभव और रघुवश मे बडी प्रवीणता से किया है।

५ 'प्रीतम' को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नायिका की सपत्नियाँ नित्य प्रति शृगार करती ही रहती हैं, परन्तु इस शृंगार से क्या ? नायिका के नैसर्गिक सौन्दर्य को कौन पा सकती है। अजी, कहीं जुगनू के समूहों ने उजाला किया है ? यह तो काम चन्द्रमा का है। यह कैसी सुन्दर उक्ति है।

प्यारे तिहारे बिमोहिबे को, सब सौति सिंगार करैं बहुतेरो।
आपुनि सो अनुहारि करैं, मनुहारि निहारि सखी मन तेरो॥
तेरे सोहाग के ऊपर वारिए, औरनि को रँग राग घनेरो।
'देव' निसाकर जोति जगै न, लगै जुगनून को पुंज उजेरो।

— देव

इसी भाव पर कालिदास ने भी रघुवंश मे लिखा है।

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये, राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि, ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

६ श्रीकृष्णजी ने सयाने होकर ब्रज मे चुङ्गी उगाहना आरम्भ किया। जिस गोपी को दधि लेकर मथुरा आते हुए देखा, चट उसके पीछे आपने दो-एक ग्वाल लगा दिये, या कभी स्वयं आप ही आ धमके और कहने लगे "पहले हमारा दान दिये जाओ, फिर दधि बेचने जाना।" कभी-कभी यदि आप चुङ्गी न ले पाते तो दहेड़ी फोड़ डालते। इस प्रकार की बातें प्रायः आये दिन होती ही रहती थीं। एक दिन गोपियों ने राधा को राजपुरुष बनाया। वे पुरुष-वेष में आकर कृष्ण से कहने लगीं तुम किसकी आज्ञा से चुङ्गी लेते हो? चलो; आज तुम्हे कंस ने बुलाया है।" सरकार के नाम पर लोगों को ठगनेवालों मे भला इतना साहस कहाँ कि वे राजपुरुष के सामने भी धृष्टता करते रहे। कृष्ण के सारे सहायक सखा डर के मारे भागे और राधिका ने बढ़कर उनका हाथ पकड़ लिया। परन्तु ज्यों ही आँखें चार हुईं त्योंही कृष्ण की हेकड़ी और राधिका की

बनावट दोनों ही जाती रहीं। देव ने कैसी सुन्दरता के साथ यह भाव अङ्कित किया है।

राजपौरिया को रूप राधे को बनाइ लाई,
गोपी मथुरा ते मधुवन की लतानि में।
टेरि कह्यो कान सो, चलो हो कंस चाहै तुम्हे,
काके कहे लूटत सुने हौं दधि-दानि मैं॥
संग के न जाने, गये डगरि डराने 'देव',
स्याम ससवाने से पकरि करे पानि में।
छूटि गयो छल सों छबीली की विलोकनि मैं,
ढीली भईं भौहैं वा लजीली मुसकानि मैं॥

अब इसी भाव पर कविवर दास का छन्द देखिए। कहना न होगा कि देव के छन्द मे जो बाँकपन है, वह दास के छन्द में नहीं है, यद्यपि भाव दोनों का एक ही है। उक्ति-वैचित्र्य इसी को कहते हैं। अपने-अपने कहने का ढङ्ग भी अलग होता है।

चाँदनी मे चैत की सकल ब्रज वारि नारि,
'दास' मिलि रास रस मिलनिझुलानी है।
राधे मोर-मुकुट, लकुट बनमाल धरि,
हरि ह्वै करत तहाँ अकह कहानी हैं॥
त्यों ही तिय-रूप हरि आप तहाँ धाय धरि,
कहिकै रिसौहैं, चलो, बोल्यो नँदरानी हैं।

सिगरी भगानी पहिचानी प्यारी मुसकानी,
छूटिगो सकुच सुख लूटि सरसानी है ॥

८ विप्रलम्भ शृंगारान्तर्गत विरह-वर्णन साहित्य का एक मुख्य अङ्ग है। जिस कवि में जितनी प्रतिभा होती है वह उतने ही ठाठ से उसका वर्णन करता है। हिन्दी-साहित्य में वियोग-वर्णन की प्रकारान्तर से परिपाटी सी है। इस वर्णन मे प्रायः नायिकाओं का ही विरह-वर्णन किया जाता है, नायक का कम किया जाता है। विरह-वर्णन के इस विषम विभाजन का कोई स्पष्ट कारण परिलक्षित नहीं होता। संस्कृत साहित्य में जहाँ नायिकाओं का विरह-वर्णन है, वहाँ नायकों का भी है। आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि ने भगवान् रामचन्द्र का विरह-वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत में विरही यक्ष का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है और उसकी कृशता का निरूपण करते हुए कहा है

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी,
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥

विरही यक्ष की कृशता की व्यञ्जना इससे सुन्दर और क्या हो सकती है? विहारी के वर्णन के समान इसमे

कोरी अत्युक्ति नहीं है। इसी भाव पर एक छंद कविवर देवजी का भी है

लाल बिना विरहाकुल बाल वियोग की ज्वाल भई झुकि झूरी।
पौन औ पानी सों प्रेम कहानी सों पान ज्यौं प्रानन्नि राखत हूरी॥
'देवजू' आजु मिलाप की औधि सो बीतत देखि बिसेख बिसूरी।
हाथ उठायो उडायबे को उड़ि काग गरे गिरी चारिक चूरी॥

देव की नायिका कितनी कृश हो गई है। हाथ उठाते ही चूड़ियाँ गिर पड़ती हैं। विरह ऐसा ही होता है।

८ संस्कृत-साहित्य के कवि पुरुष-विरह का भी वर्णन करते हैं, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं। एक कवि भगवान् रामचन्द्रजी के विरह का चित्र इस तरह खींच रहे हैं। इसमे अर्थान्तर-संक्रमित वाच्यध्वनि की कैसी सुन्दर छटा है। और रस के साथ गुण और वृत्ति का कैसा सुन्दर सामञ्जस्य है। वर्णन के अनुकूल मंदाक्रान्ता वृत्त भी चुना गया है।

मासं कार्श्यादभिगतमपां बिन्दवो वाष्पपातात्,
तेजः कान्तापहरणवशाद्वायवः श्वासदैर्घ्यात्।
इत्थं नष्टं विरहवपुषस्तन्मयत्वाच्च शून्यम्,
जीवत्येव कुलिशकठिनो रामचन्द्रः किमेतत्॥

जयदेव

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥

'देव' जियै मिलिबेई की आस कि आसहू पास प्रकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जू लियो हरि जू हरि॥

देव

भगवान् रामचन्द्र की सीता के विरह मे कैसी दयनीय दशा हो रही है। शरीर के पाँचों तत्त्व जहाँ से आये थे वहीं धीरे-धीरे जा रहे हैं। केवल सीता के पुनर्मिलन की आशा मात्र से भगवान् प्राण धारण करने मे समर्थ हो रहे हैं। आशातन्तु सूक्ष्म होते हुए भी वास्तव में बड़ा प्रबल होता है। इसी का आश्रय लेते हुए विरही विषमवाण की वेदना को सहते हुए भी जीवित रहते हैं। यह आशातन्तु भी कविवर्णन का एक सुन्दर विषय है। पहले कालिदास को देखिए

तांञ्चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीम्,
अव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशः प्रायशो ह्यंगनानाम्,
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

मेघदूत

तेरी भाभी दिन गिन रही एकभर्तावती को,
देखेगा तू रुक न पथ में जा वहीं जीवती को।
होता स्नेही हृदय जिनका पुष्प सा शीघ्रपाती,
आशा प्रायः प्रियविरह में स्त्री जनों को जिवाती।

इसी भाव पर कविवर भवभूतिजी का छन्द देखिए। आशातनु पर आपकी उक्ति कैसी मार्मिक है।

दैवात् पश्येः जगति विचरन् मत्प्रियां मालती चेत,
आश्वास्यादौ तदनु कथय माधवीयामवस्थाम्।
आशातन्तुर्न च कथयता सोऽप्यनुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमिव करोत्यायताक्ष्या: स एकः॥

मालतीमाधव

इसी भाव पर कविवर सोमनाथ का एक छन्द देखिए

दिसि दिसि डोलत कलोल भरे मेघ तुम,
ताप निरवारत सलिल बरसायकै।
मालती कहूँ जो रावरे की दीठि परि जाय,
कहियो सँदेसो यो दया को सरसायकै॥
तेरे ही वियोग मैं यों व्यथित भयो है माधौ,
भागि गई नैननि कौ निंदिया बिहाय कै।
आसनि की पास बाँधि राखत है प्राननि कौ,
ताहि ज्याय लीजै सुख यह दरसायकै॥

इसी भाव पर कविवर सत्यनारायण का छन्द देखिए

घूमत देस विदेसन मैं घन देखियो जो कहूँ मालती प्यारी।
धीरज वाको बँधाय खरो दसा माधव की कहि दीजियो सारी।
देखियो आस कौ तन्तु न तोरियो राखियो वाहि विशेष सवारी।
वाही के एक सहारे अहा धन जीवत आयत लोचनवारी॥

एक संस्कृत-कवि ने और भी कहा है

आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धम्

है सखी प्रानन राखि रही तिया आस की पासनि बाँधि भई नई ॥

९ भगवान् कृष्ण के संकेत पर चतुर दूतिका राधिका को संकेत-स्थल पर लताकुञ्ज में बुला लाई और भगवान् से कहने लगी कि देखो इनका वैसे ही सत्कार करना जैसे शंकर ने शंकरी या श्रीपति ने लक्ष्मी का किया है। इस भाव पर पहले दासजी का छंद देखिए

लेहु जु ल्याई हौं गेह तिहारे, परे जोई नेह सँदेस खरे मैं।
त्र्यैं भुजभरि मेटौ बिथानि, समैयै जू तौ सब साध भरे मैं॥
सम्भु ज्यों आधहि अंग बसाओ, लगाओ कि श्रीपति ज्यों हियरे मैं।
'दास' भरो रसकेलि सकेलि, सु आनँदबेलि सी मेलि गरे मैं॥

नैननि के तारनि में राखौ प्यारे पूतरी कै,
मुरली ज्यों ल्याय राखौ दसन बसन मैं।
राखौ भुज बीच बनमाली बनमाला करि,
चन्दन ज्यों चतुर चढ़ाय राखौ तन मैं॥
'केशवराय' कल कंठ राखौ बालि कठुला कै
करम करम कैहूँ आनी है भवन मै।
चंपक कली सी बाल सूँघि सूँघि देवता सी,
लेहु प्यारे लाल, इन्हैं मेलि राखौ तन मै॥

केशव

देव की उक्ति देखिए

लेहु लला उठि लाई हौं बालहि लोक की लाजहि सौं लरि राखौ।
फेरि इन्हैं सपनेहु न पाइयत, लै अपने उर मै धरि राखौ॥
'देव' लला अबला नवला यह, चन्द्रकला कठुला करि राखौ।
आठ हू सिद्धि नवौ निधि लै घर बाहर भीतर हू भरि राखौ॥

ये तीनों छंद प्रायः एक ही भाव पर लिखे गये हैं। इस विषय की रचना पर चरित्ररक्षा के ठेकेदार आलोचक भले ही आपत्ति करें, परन्तु यह वर्णन कोई नई बात नहीं है। इसका अपराध केवल रीतिकालवाले कवियों के ऊपर ही नहीं लगाया जा सकता, प्रत्युत यदि यह वास्तव मे अपराध ही है तो संस्कृत-साहित्य के बड़े-बड़े आचार्य भी इस दोष से मुक्त न हो सकेंगे; क्योंकि वही तो हिन्दी कवियों के पथप्रदर्शक हैं। जैसा मार्ग उन्होंने प्रशस्त कर दिया, कालान्तर मे हिन्दी के कवियों ने उसी मार्ग पर पदार्पण किया। इसमे हिन्दीवालों का कोई अपराध है ही नहीं।

१० नायिकाभेद के अन्तर्गत कवियों ने खण्डिता का उल्लेख किया है। खण्डिता का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है

निद्राकषायमुकुलीकृतताम्रनेत्रः
नारीनखव्रणविशेषविचित्रिताङ्गः।

यस्याः कुतोऽपि गृहमेति पतिः प्रभाते
सा खण्डितेति कथिता कविभिः पुराणैः ॥

रीतिकाल के कवियों ने खण्डिता पर एक से एक सुन्दर छन्द लिखे है। पहले कविवर विहारीलाल का वर्णन देखिए।

पलक पीक अंजन अधर, दिये महावर भाल।
आजु मिले सो भली करी, भले बने हो लाल ॥

किसी अन्य वनिता के घर मे निवास करके प्रियतम प्रातःकाल अपने घर आया। उसे देखकर खण्डिता कहने लगी कि वाह क्या ही दृश्य है। पलकों मे ताम्बूल की पीक लगी हुई है, ओठों पर अंजन और मस्तक पर महावर। आज तो विलक्षण व्यापार दिखलाई पड़ता है। वास्तव मे आज आपकी शोभा निराली है। इसी भाव पर किसी अज्ञात कवि ने कहा है

आये हो मान मिटावन मेरो, भली विधि भूषन भेष बनाये।
है वडि भागिनि वाही तिया, जो पिया करिकै निज सेज सोवाये ॥
काहू छबीली को छोटो छला छिगुनी में लला यह कैसो सजाये।
होरी सबै निसि खेली कहाँ, औ कहाँ इन नैननि पान खवाये ॥

इस छवि पर खण्डिता ने जो कुछ कहा बहुत स्पष्ट शब्दों मे कहा। साहित्य की दृष्टि से वाच्यार्थ का कोई महत्त्व नहीं है। यदि यही बात व्यंग्य द्वारा कही जाती तो इसका साहित्यिक गौरव और भी बढ़ जाता। 'नेत्रों को पान खिलाने की सूझ पद्माकर की है।

खाये पान बीरी से बिलोचन बिराजैं आजु;
अंजन अँजाये अधराधर अमी के हैं।
कहै 'पद्माकर' गुनाकर गोविन्द देखौ
आरसी लै अमल कपोल किन पीके हैं॥
कैसी अवलोकिवेई लायक मुखारविन्द,
जाहि लखि होत अरविन्द इन्दु फीके है।
प्रेम रस पागे अनुरागे आये मेरे धाम,
आजु हम जानी कै हमारे भाग नीके हैं॥

जिन बातों को ऊपर अज्ञातनामा कवि ने वाच्य मे कहा था उसी विषय को देवजी ने व्यंग के द्वारा कहा है। इससे इनकी रचना का सौन्दर्य्य और भी बढ गया है।

भारे हौ भूरि भुराई भरे अरु भाँतिन भाँतिन कै मन भाये।
भागु भलो वर भामती कौ जेहि भावते लै रँगभौन बसाये॥
भेष भलोई भली बिधि सों करि, भूलि परे किधौं काहू भुलाये।
लाल भले हो भलो सिख दीनो, भली भई आजु भली बनि आये॥

देव की खण्डिता कैसी विदग्धा है। नायक को सापराध प्रमाणित करने के लिए पहले तो उसके अन्य गृह निवास करने की ओर भली भाँति सङ्केत करती है, और फिर उसे क्षमा भी करती है। इसकी उक्ति में पूरा पाण्डित्य भरा हुआ है। यह भाव बिहारी के दोहे से कहीं उत्कृष्ट है। यहीं पर देवजी की कारीगरी है।

खण्डिताओं के ललित प्रसङ्ग पर हम अधिक न कहकर भारतेन्दुजी का केवल एक छन्द उद्धृत करेंगे। पाठक देखें इसमे कितनी मार्मिकता है।

है ही तिहारे दिखाइवे कौ, सबै जागत ही रही रैनि उजार सी।
आये न राति पिया 'हरिचन्द' लिये कर भोर लौं है रही भार सी॥
है यह कञ्चन ही की निरी अरु यामें करी कछु चित्र चितारसी।
देखिए लालन कैसी बनी है, नई यह मञ्जुल सुन्दर आरसी॥

हरिश्चन्द्र की खण्डिता सापराध नायक के किसी कार्य्य-कलाप की मौखिक आलोचना नहीं करती। प्रत्युत अपनी छाप दिखाने के व्याज से उन सब बातों को कहती है जो बिहारी ने अपने दोहे मे कही हैं। हमे भारतेन्दुजी का यह छन्द सबसे अच्छा लगता है।

११ देवजी शृङ्गारी कवि थे। उनकी रचना का अधिकांश शृङ्गारमय है। सयोग या वियोग शृङ्गार के उद्दीपन विभाव सम्बन्धी प्राकृत दृश्यों के वर्णन मे शृङ्गार का ही आश्रय लिया गया है। जहाँ अँगरेजी साहित्य के कवि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन मे स्वाभाविकता लाते हैं वहाँ हिन्दी-साहित्य के कवि उसमें नायक की विरह या संयोग सम्बन्धी कोई न कोई बात अवश्य देखते है। संस्कृत के कवि ऐसी मनोवृत्ति से कुछ-कुछ बचे हुए है, यद्यपि उनके वर्णन में भी वह स्वाभाविकता देखने में नहीं आती जैसी अँगरेज़ी कवियों के वर्णन मे है। कारण यह है कि हमारे कवि उसमें अलङ्कार ठूँसने की चेष्टा करते हैं।

इसी लिए उनके वर्णनों मे कुछ न कुछ अस्वाभाविकता भी आ जाती है; परन्तु बहुधा नहीं। उदाहरण के लिए महाकवि माघ के श्लोक देखिए

व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पङ्कजश्रीः
धनिन इव विदेशे दैन्यमायान्ति भृङ्गाः।
कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यन्धकारः
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः॥
कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम्
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिः याति शीतांशुरस्तम्,
हतविधिविहतानां हा विचित्रो विपाकः॥

और भी

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्,
आविष्कृतारुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्याम्,
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु॥

कालिदास

इसमे सूर्य्योदय और चन्द्रास्त एक साथ दिखलाया गया है। हिन्दी-साहित्य में ऐसी उक्तियाँ मिलना कठिन है। उद्धृत श्लोक अभिज्ञान शाकुन्तल का है जिसका भावार्थ अग्रलिखित पद्य में है

उदय होत दिननाथ इत, उत अथवत निसिराज ।
द्वैघण्टायुत द्विरद के छवि धारत गिरि आज ॥

केशव ने अपने छन्द का भाव इस श्लोक में दिया है ।

कीर्णान्धकारालकशालमाना,
निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि ।
निशापिशाची व्यचरद्दधाना,
महान्त्युलूकध्वनिफेत्कृतानि ॥

त्रिदेववाग्भट्ट

महाकवि केशवदास रात्रि का वर्णन करने बैठे । आपको अनोखी बात सूझी

प्रेत की नारि ज्यों तारे अनेक, चढ़ाय चलै चितवै चहुँ घाती ।
कोढ़िनि सी कुकुरे कर कंजनि, 'केशव' सेत सबै तन ताती ॥
भेटत ही वरै ही अबही, त्यों गई ही सुखै सुख साती ।
कैसी करौं अब कैसे बचौं, बहुत्यो निसि आई किये मुखराती ॥

देवजी प्रभात का वर्णन करने लगे । कवियों को नायिकाओं से प्रायः अधिक सहानुभूति होती है । सहृदय ठहरे, क्या करें, अबलाओं का दुःख देखा नहीं जाता । केशव ने रात्रि को प्रेत की नारी और कोढ़िनी बनाया तो देवजी ने प्राची दिशा को पिशाचिनी बना डाला ।

वा चकई को भयो चितचीतो, चितौति चहूँदिसि चाय सौं नाँची ।
ह्वै गई छीन कलाधर की कला, जामिनी जोति मनो जम जाँची ।

बोलत बैरी बिहंगम 'देव', सँजोगिनि की भई सम्पति काँची।
लोहू पियो जो वियोगिनि को, सो किये मुख लाल पिसाचिनी प्राची॥

संयोगिनी की सम्पति काँची करने के अपराध पर वास्तव में प्राची दिशा को यही उपाधि मिलनी चाहिए थी।

और भी

दीसै करेजी वियोगिनी की, घनश्याम के राग के रंगनि राँची।
कामरी कारी पै रंग चढ़्यौ, रवि देखि लजानि छिनेक की प्राची॥
ह्वै मदिरा रस खाची मनो, कहूँ साँच हूँ आँगन नाची पिसाची।
प्राची मैं आजु सकारेहि ते, किधौं होरी कहूँ बड़े धूम की माची॥

मदनेश

बेनी प्रवीन ने प्राची दिशा पर कुछ कृपा की। उन्होंने इसे पिशाची नहीं बनाया ; केवल सपत्नी बनाकर छोड़ दिया। अपनी राय से वेणीजी ने अच्छा ही किया। परन्तु स्त्रियों को सपत्नी, पिशाचिनी नहीं, राक्षसिनी एवं व्याघ्रिणी से भी भयंकर प्रतीत होती है।

बहु द्यौस बिदेस बिताय पिया, वरै आवन की घरी आली भई।
परदेस असेस कलेस कथा, सब भाखी यथा बनमाली भई॥
हँसिके कहै 'बेनी प्रवीन' जबै, रस-केलि कला की उताली भई।
तब वा दिसि पूरब पूरन मै लखी, बैरनि सौति सो लाली भई॥

यह भाव कवि-कुल-कुमुद-कलाधर श्री कालिदास का है। उन्होंने 'शृंगारतिलक' में उसे इस प्रकार लिखा है

समायाते कान्ते कथमपि च कालेन वहुना,
कथाभिर्देशाना सखि रजनिरर्धं गतवती।
ततो यावल्लीलाविरहकुपितास्मि प्रियजने,
सपत्नीव प्राची दिगियमभवत्तावदरुणा॥

यह भाव बड़ा ललित है। इसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर कविवर रामरत्नजी ने भी इस पर एक सवैया लिखा है।

१२ वंशीधर की तान मे भी न जाने कौन सा आकर्षण था कि जिसे सुनकर गोपांगनाओं को आत्म-विस्मृति हो जाया करती थी। जाती थीं वे दही वेचने परन्तु बेचती थीं अपना हृदय। इस भाव को कविवर देवजी ने कैसी सुन्दरता से चित्रित किया है।

पुकारि कही मैं दही कोउ लेउ, यही सुनि आइ गये इत धाय।
इतै कवि 'देव' चितै ही चले, मनमोहन मोहनी तान सी गाय॥
न जानति और कछू तव ते, मन माहिं वही पै रही छवि छाय।
गई तौ हुती दधि बेचन काज, गयो हियरा हरि हाथ बिकाय॥

इसी भाव पर कविवर 'दास' ने निम्नांकित छन्द लिखा है

जिन्हैं मोहन काज सिंगार सजे, तिनहीं के सरूप लोभाय गई।
न मुठी को चलाय सकी तिनपै, तिनहीं के मुठी में समाय गई।
वृषभानु-लली की दसा कहै 'दास', ठगौरी किये ही ठगाय गई।
वरसाने गई दधि वेचिवे को, विन दामन आप बिकाय गई॥

१३ वियोग-वर्णन करने में हिन्दी-कवियों ने हद कर दी है। वियोग की बारह अवस्थाएँ होती हैं, उनमें मरण के वर्णन का रीतिकारों ने निषेध किया है। परन्तु अन्य दशाओं का वर्णन प्रायः सभी रीति-ग्रन्थों में उपलब्ध है। इनमें एक दशा का नाम उद्वेग है। जब प्रेमिका चित्त मे अत्यन्त व्याकुल होने के कारण निराश्रित हो जाती है जो उसकी वियोगावस्था को उद्वेग कहते हैं। कविवर बिहारीलाल ने भी एक ऐसी विरह-विधुरा वनिता का वर्णन किया है, जिसकी विरहावस्था उद्वेग तक पहुँच गई थी।

हौंही बौरी बिरह बस, कै बौरौ सब गाँव,
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाँव ॥

नायिका शीतकर के गुणों की आलोचना करती है। उसको इसके नामकरण पर आपत्ति है। यह तो सुधाधाम होकर विष फैलाता है। लोग इसे शीतकर क्यों कहते हैं, जब कि यह विरह-विधुरा वनिताओं को जलाये डालता है? देवजी ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। परन्तु यहाँ पर हम उनका एक ही छन्द उद्धृत करेंगे।

रैनि सोई दिन इन्दु दिनेस, जोन्हाई है घाम धनो विष खाई।
फूलनि सेज सुगन्ध दुकूलनि सूल उठै तनु तेल ज्यों ताई ॥
बाहर भीतर भँवैहरे भून रह्यौ परै 'देव' सो पूछन आई।
हौं ही भुलानी की भूले सबै, कहै ग्रीषम को सरदागम माई ॥

और भी

सिन्धु के सपूत अरु सिन्धुतनया के बन्धु,
आकर पियूष औ प्रभा के समुदाई के।
कहैं पदमाकर गिरीस के चढ़े हो सीस,
औषधि के नाथ कुल कारन कन्हाई के।
ऐरे मतिमन्द चन्द आवत न तोहि लाज,
बनिता वियोगिनि सतावत अघाई के।
ह्वै के सुधाधाम काम विष को बगारै,
अरु ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई के।

पद्माकर

और भी

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोः,
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः,
त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि॥

कालिदास

चन्द्रमा पर यों तो सभी कवियों ने एक से एक बढ़कर छन्द कहे हैं। परन्तु इन सबमें महाकवि श्रीहर्ष का चन्द्रोपालम्भ अद्वितीय है। संस्कृत और हिन्दी-साहित्य में कहीं भी चन्द्रमा पर ऐसी मार्मिक उक्तियाँ देखने मे नहीं आवेगी।

१४ ग्रीष्मकालीन ज्योत्स्नावती रात्रि मे अपनी सखियों के साथ राधिका सौध में विहार कर रही थीं। वह स्फटिक-शिला का बना हुआ था। उसका फर्श भी नितान्त उज्ज्वल था। राधिका की समवयस्का वनिताएँ उनके चारों ओर खडी थीं। उधर आकाश मे भी यही दृश्य था। चन्द्र-प्रकाश के कारण आकाश स्वच्छ हो रहा था। चन्द्रमा को नक्षत्रावली घेरे हुए थी। देवजी को यह समझ पड़ा कि आकाश नहीं है, यह तो विमल दर्पण है जिसमे राधिका और उनकी सखियों का प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता है। बहुत दूर होने के कारण ये प्रतिबिम्ब कुछ छोटे मालूम होते हैं। कैसी सुन्दर उक्ति है। यह कल्पना देव जैसे कवियों के ही हृदय में आ सकती है

फटिक-सिलानि सों सुधार्‌यो सुधा-मदिर,
उदधि दधि को सो अधिकाई उमगै अमंद।
बाहर ते भीतर लौं भीति न देखिए 'देव'
दूध कैसो फेन फैलो आँगन फरसबन्द॥
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिलि होति,
मोतिन की ज्योति मिली मल्लिका कौ मकरन्द।
आरसी से अम्बर मैं आभा सी उजाली लगै,
प्यारी राधिका कौ प्रतिबिम्ब सौ लगतु चन्द॥

इसी भाव पर कविवर दासजी ने अपना छन्द निर्माण किया है।

आरसी को आँगन सोहायो छवि छायो,
नहरनि मैं भरायो जल उज्जल सुमनमाल।
चाँदनी विचित्र लखि चाँदनी विछौना पर,
दूरि के चँदोवन को विलसै अकेली वाल॥
'दास' आसपास बहु भाँतिन विराजैं धरे,
पन्ना पोखराज मोती मानिक पदिक लाल।
चन्द्र प्रतिविम्ब सों न न्यारो होत मुख, औ न
तारे प्रतिविम्ब ही ते न्यारे होत नग जाल॥

१५ एक गोपिका से भगवान् कृष्ण की घनिष्ठता हो गई थी। उसकी अन्य सखियाँ उसे इस प्रवृति के लिए लांछित करने लगीं। बेचारी चुपचाप सबकी सुन लिया करती थी। कुछ कहती नहीं थी। सहनशीलता की भी कुछ हद होती है। अन्त में सखियों के नैतिक आक्षेप से तङ्ग आकर वह कहने लगी

बीस्यो बंस बिरद में बौरी भई वरजति
मेरे बार बार कोई पास आनि बैठौ जनि।
सिगरी सयानी तुम, बिगरी अकेली हौं ही,
गोहन में छाँड़ो मोसों भौंहनि उमेठौ जनि॥
कुलटा कलंकिनी हौं, कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की, निकाम याते ऐंठौ जनि।
'देव' तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बाढ़े, हौ तौ,
वैठी हौं विकल, कोई मोहि मिलि वैठौ जनि॥

इसी भाव पर भारतेन्दु बाबू ने एक छन्द लिखा है

हौं कुलटा औ कलंकिनी हौं, अब तो हम छाँड़ि दियो कुल गैलो।
आछी रहौ अपने घर मे, तुम ना यहाँ आय करेजनि छैलो॥
लागि न जाय कलंक तुम्हैं, चुप बैठी रहो सँग लागी न डोलो।
बावरी जो पै भई सजनी, तो चलौ हम सौं जनि आय कै बोलो॥

हमारे विचार से दोनों ही छन्द बड़े उत्कृष्ट हैं। इन दोनों के भाव में उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। वर्णन दोनों का सुन्दर है।

१६ चिर-प्रवास के अनन्तर प्रियतम परदेश से आया। विरह-विधुरा वनिता को मानो पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। उसके हृदय का आनन्द या तो भुक्तभोगी समझ सकता है या देव सरीखे मार्मिक कवि। उसके आगमन से पहले ही से कुछ ऐसे शुभ-सूचक सगुन हो रहे थे जिससे उसे अनुमान हो रहा था कि प्रियतम अवश्य आते होंगे। बस, इसी अनुमान के आधार पर वह अपने नये वस्त्र पहनने लगी। इसी भाव को कविवर बिहारीलालजी ने बड़ी उत्तमता से अंकित किया है। देखिए :

'मृगनैनी दृग की फरक, उर उछाह तनु फूल।
बिन ही पिय आगमन तिय, पलटन लगी दुकूल॥

अब इसी भाव पर देवजी का छन्द देखिए

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय-आवन की,
सुनि कोरि-कोरि रस भामिनि भरति है।

मोरि-मोरि बदन निहारति बिहारभूमि,
घोरि-घोरि आनंद घरी सी उघरति है ॥
'देव' कर जोरि-जोरि बन्दत सुरन,
गुरु लोगनि के लोटि-लोटि पाँयनि परति है ।
तोरि-तोरि माल पूरे मोतिन की चौक,
निछावरि को छोरि छोरि भूषन धरति है ॥

१७ कहते है जब सूरदासजी अंधे होने के कारण एक कुएँ में गिर पड़े थे तो उन्हे भगवान् श्रीकृष्णजी ने उसमे से निकाला था, परन्तु ज्योंही सूर बाहर आये त्योंही भगवान् उनसे अपना हाथ छुडाकर चलते बने। दुर्बल होने के कारण सूर बेचारे मन मारकर रह गये। तब तो उन्होंने भगवान् से कहा

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानिकै मोहि ।
या हिय ते जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि ॥

सूर की इस उक्ति को देवजी ने अपने छन्द में फिट किया है परन्तु यहाँ प्रसंग गोपियों और कृष्ण का है

रावरो रूप रस्यो भरि नैननि, बैननि के रस सो श्रुति सानी ।
गात में देखत गात तुम्हारेइ, बात तुम्हारेइ बात बखानी ॥
ऊधो हहा हरि सों कहियो तुम, हौ न यहाँ यह हौ नहिं मानौ ।
या तन तैं बिछुरै तो कहा, मन तैं अनतै जु बसौ तब जानौं ॥

१८ विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत वियोग की एक दशा का नाम उन्माद है। उन्माद उस दशा को कहते हैं जब अत्यन्त

संयोग की उत्कण्ठा से प्राणी मोहपूर्वक वृथा रोदन, हँसी या असम्बद्ध प्रलाप करने लगे। देवजी ने इस पर एक छन्द लिखा है

राधिका कान्ह को ध्यान करै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को, पाती लिखै लिखि राधे को ध्यावै॥
'देव जू' राधे सु राधेइ ह्वै वही प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आप ही आपु सुनै नित ही, उरझै बिरुझै सुरझै समुझावै।

इसी भाव पर किसी अज्ञातनामा कवि का छन्द हमे याद है। वह इस प्रकार है-

आपनी ओर की चाहै लिख्यौ, लिखि जात कथा उतै मोहन ओर की।
प्यारे मया करि आनि मिलौ, सही जात बिथा नहीं मैन मरोर की।
आलिन मैं जाकि राधे रही, औ कही किन लाई चिठी चितचोर की।
या बिधि सौं मन मोहनी मोहिकै, ह्वै गई मूरति नन्दकिसोर की॥

अज्ञातनामा कविने देवजी से भाव लेने की चेष्टा की है परन्तु वे इस प्रयास में सफल नहीं हुए हैं। इनके और देव के छन्द में कौड़ी मोहर का बट्टा है। इसी को सौन्दर्य-संहार कहते हैं। किसी का भाव भी लिया गया पर उसका निर्वाह सुन्दरतापूर्वक न हो सका तो यह लज्जा की बात है। भाव-ग्रहण वही श्रेष्ठ माना गया है जो अपने मौलिक आधार से बढ़ जाय। परन्तु जब यह अपने आधार की अपेक्षा हीन होता है तब एक निन्दनीय प्रसंग उपस्थित होता है।

१९ विवाह-संस्कार के अनन्तर दम्पती के जीवन में एक प्रकार से नवयुग आरम्भ होता है। उस समय जो बात होती

है वह नई होती है। देवजी ने इस बात को अच्छी तरह समझा था। उन्होंने इस विषय पर एक छन्द इस तरह लिखा है

गौन भयो दिन चारि नयो, दिन वे नव यौवन जोति समाते।
देखिए देव नयेई नये नित, भाग सुभाग नये मदमाते।
पै अब मेरी हितू हमें बूझै को, होत पुरानन सो हित हाते।
नाह नये ये नई दुलही, ये नये नये नेह नये नये नाते॥

इस भाव से कुछ मिलते-जुलते हमें दो और छन्द याद हैं। इन्हे भी देवजी का अनुकरण करके किसी अज्ञातनामा कवि ने बनाया है। वे इस प्रकार हैं

नूतन पीतपटा तन सोहत, राधिका साजै दुकूलनि राते।
त्योंही कलिन्दजा के कलकूल, नये द्रुम पुञ्जनि कुञ्जनि जाते।
ताखन तौ अभिलाषनि सौं, कबहूँ रस राते न खेलि अघाते।
नाह नये औ नई दुलही, ये नये नये नेह नये नये नाते॥
नई चूनरी भीजै नई बुँदियानि, नई रस बेलि बढ़ावत जात।
नव जोबन सौं उलही दुलही, रस रीति की पाटी पढ़ावत जात।
करि केतिक प्रेम पगी बतियाँ, छतिया सौं पिया को लगावत जात।
नई कमनैत नईये कमान, नये नये बान नई नई घात॥

इसी भाव पर सूरदासजी का निम्नलिखित पद भी है

नयो नाहु नयौ नेह नयो रस नवल कुँवरि वृषभानुकिशोरी।
नयो पीताम्बर नई चूनरी नई नई बूँदनि भीजति गोरी।
नये कुंज अति पुंज नये द्रुम सुभग जमुन जल पवन हिलोरी।

२० कवियों की सूझ बडी अनोखी होती है। कारण यह है कि ईश्वर ने उन्हे बडी पैनी दृष्टि दे रक्खी है। जहाँ साधारण मनुष्य प्रत्यक्ष वस्तु का भी भली भाँति निरीक्षण करने मे असफल रहते हैं, वहाँ कवि एक्सरे के समान उसकी भीतरी बातों को भी देख लेता है, और उसी के आधार पर एक नई कल्पना करता है। यों तो बहुत लोगों ने सामान्य नर्तकियों का नृत्य विशेष उत्सवों के उपलक्ष में देखा ही होगा, परन्तु कविवर केशवदासजी ने आँखों के अखाड़े में सितासित काछनी काछे पुतरी पातुर का नृत्य देखा है। इसका रूपक पाठक भी देख लें

काछे सितासित काछनी 'केशव' चातुर ज्यों पुतरीन बिचारो।
कोटि कटाच्छ नचै गति भेद, नचावत नायक नेहनि न्यारो॥
बाजतु है मृदु हास मृदंग सो, दीपति दीपन को उजियारो।
देखत हौ यह देखत है हरि, होत है आँखिन ही मैं अखारो॥

इसी भाव पर कविवर देवजी ने भी अपना निम्नाङ्कित छन्द निर्माण किया है। कहना न होगा कि यह छन्द भी केशव के छन्द से काव्य-सौन्दर्य मे किसी प्रकार कम नहीं है।

बाजी बसै रसना दसना, दस नूपुर भाग की भूपर भारे।
चोज के तान मनोज के बान सों, ओज के गान गरे अनुसारे॥
लाज लुटी छिन एक छुटी, लट 'देव' कटाच्छ कुटीर के द्वारे।
प्रेम चुटी सुख सोग जुटी, सु नटी भृकुटी त्रिकुटी के अखारे॥

२१ सन्देश-काव्य विप्रलम्भ-शृङ्गार का एक अंगीभूत विषय है। इसी आधार पर मेघ, पवन इत्यादि कई प्रकार के दूत-काव्यों की रचना हो चुकी है। जिन लोगों ने काव्य का अनुशीलन किया है उनसे गोपिका और उद्धव के संवाद वाला प्रसंग छिपा नहीं है। इस विषय पर कविवर सूरदास ने वहुत कुछ लिखा है। और ऐसा सुन्दर लिखा है कि प्रकारान्तर से उस पर अधिक लिखने का क्षेत्र ही नहीं रह गया है। परन्तु इसके होते हुए भी प्रतिभासम्पन्न कवि सब कुछ लिख सकता है। कविवर नन्ददासजी जब अपना 'भँवरगीत' लिखने बैठे तो उन्होंने यह बात भली भाँति सिद्ध कर दी कि इस पर अभी और कुछ लिखा जा सकता है। कदाचित् इसी प्रेरणा के अनुसार कविवर देवजी ने निम्नलिखित छन्द निर्माण किया है

जोगहि सिखैहैं ऊधो जो गहि कै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ ह्वै चुकी।
देव पंचसायक नचाय खेलि पंचन मैं,
पंचहू करनि पचामृत सो अचै चुकी॥
कुलबधू ह्वै के हाय कुलटा कहाई अरु,
गोकुल मै कुल मैं कलंक सिर लै चुकी।
चित होत हित न हमारे नित और सो तो,
वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकी॥

इसी विषय पर कविवर रत्नाकरजी का निम्नलिखित छन्द देखिए

नेम व्रत संजम के पींजरे परै को जब,
लाज कुलकानि प्रतिबंधहि निवारि चुकी।
कौन गुन गौरव कौ लंगर लगावै जब,
सुधि बुधिहू को भार टेक करि टारि चुकी॥
जोग 'रतनाकर' मैं साँस घूँटि बूड़े कौन,
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकी।
मुक्ति मुक्ता कौ मोल माल ही कहा है जब,
मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकी॥

दोनों ही छन्द सुन्दर हैं। यदि देव ने अपने वर्णन में यमकालङ्कार का आश्रय लिया है तो रत्नाकरजी ने रूपक का।

२२ आजकल विज्ञान का युग है। जो बात तर्क की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती उसका कोई मूल्य नहीं है। ऐसी बात की सत्यता पर अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित व्यक्ति भले ही विश्वास कर लें, परन्तु आधुनिक शिक्षा-दीक्षित महानुभाव तो इसे मानने के लिए तैयार ही नहीं। वे लोग इसे रूढ़ि का समर्थन कह देते हैं। सुधारवादी जनता रूढ़ि के समर्थन को भले ही अनादर की दृष्टि से देखे, परन्तु हमारे कवि-गण इसके समर्थन में अपना गौरव समझते हैं। रीतिकारों ने इसे निबन्धना का नाम दे रक्खा है। यह निबन्धना चार प्रकार की होती है।

(१) सतोपि निबन्धनीय—अर्थात् पदार्थ के सत्य होते हुए भी इसका वर्णन अवांछनीय है।

(२) असतोऽपि निबन्धनीय- अर्थात् पदार्थ तो असत्य है पर उसका वर्णन किया गया है।

(३) नियमेन निबन्धनीय अर्थात् जिस पदार्थ का प्राचीन काल मे जैसा वर्णन हुआ है वैसा ही वर्णन करना।

(४) विकल्पेन निबन्धनीय अर्थात् जिसका वर्णन दो प्रकार से किया जाय।

कविवर् राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' मे इसपर बहुत कुछ लिखा है। पाठकों के विनोदार्थ हम असतोऽपि निबन्धनीय पर एक छन्द उद्धृत करते हैं। इसे साधारण लोग भले ही ऊटपटाँग समझें; परन्तु काव्य के विद्यार्थियों को तो इसे साहित्यिक स्वयंसिद्धि (Axiom) ही मानना चाहिए। यदि वे इसी पर शास्त्रार्थ खड़ा कर देंगे तो समझ लीजिए इनके साहित्य-अध्ययन की इतिश्री यहीं हो गई। रेखागणित के अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को पहले ही यह मान लेना चाहिए कि रेखा मे लम्बाई मात्र होती है, चौड़ाई होती ही नहीं, यद्यपि व्यावहारिक जगत् में ऐसी रेखा बन ही नहीं सकती। यह गणितशास्त्रियों की मस्तिष्क-शक्ति की प्रसूति है। वह निबन्धना इस प्रकार है

गिर महँ जहँ तहँ सरल अल्प जल महँ मराल गन।
सुर सुरसरि महँ, वारि गजादिक अम्बुज सरितन॥
तम मूँठी महँ गहब अँधेरहि सूचीभेदन।
कीर्ति पुण्य शुभ्रत्व अकोरति अघ अति करिपन॥

कहहिं कृष्णता रक्तता तिमि प्रताप महँ सुकवि जन।
क्रोध राग को रक्तता पान चकोरी शशि किरन॥
तरुण नारि मद युक्त कुल्लिका करत बकुल पर।
पुष्पित सो तरु होत तथा पद के अघात पर॥
फूलत वृक्ष अशोक बिना ऋतहू मासान्तर।
सकेल जलहि शैवाल चंद्रिका शुक्ल पक्ष भर॥
चन्द्र किरण भरि अजुलिहि भरन कहत बुध जन गागर।
निशा वियोगी चक्र कहँ 'भानु' सुकवि कहे जुग सागर।
(श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु')

इसका समर्थन राजशेखर जी ने इस प्रकार किया है।

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः
शोकं जहाति वकुलो मुखसीधुसिक्तः
आलिंगितः कुरबकः कुरुते विकास
आलोकितस्तिलक उत्कलिको विभाति।

प्रसंग पाकर कविवर देवजी ने इसी सामग्री का कैसा सुन्दर उपयोग किया है। जब वे प्रौढ़ा अधीरा का उदाहरण तैयार करने लगे तो उन्होंने इसी सामग्री से ऐसा सुन्दर व्यंग कहा जो साहित्यिक दृष्टि से परमोत्कृष्ट है

आये हौ भामिन भेटि कुरौ लगि, फूल धरे अनुकूल उदारै।
केसरि जानि तुम्हे जु सुहागिन आसव लै मुख सी मुख डारै॥
कीनी सनाथ हौ नाथ मया करि मो बिन को इतनी जो उचारै।
होय असोक सुखी तुम लौं, अबला तन को अब लातन मारै॥

२३ रीतिकारों ने विप्रलंभ शृङ्गार के पाँच भेद बताये हैं। (१) अभिलाषहेतुक, (२) ईर्ष्याहेतुक, (३) विरहहेतुक, (४) प्रवास-हेतुक और (५) शापहेतुक।

इसमे अभिलाषहेतुक विषय का वर्णन करते हुए देवजी ने निम्नलिखित छन्द कहा है। यह गुण-श्रवण तथा चित्त-स्वप्न एवं प्रत्यक्ष दर्शन का एकत्रित उदाहरण है। यहाँ नायक के गुण-श्रवणादि से अनुरक्ता नायिका का पूर्वानुराग वर्णित है।

देखिए:

प्रेम कहा तिनसों पहिले हरि, कानन आनि समीप किये तै।
चित्र चरित्र न मित्र भये, सपनेहु में मोहि मिलाय लिये तै॥
'देवजी' दूर तें दौरि दुराय कै, प्रेम सिखाय दिखाय दिये तै।
वारिज से विकसे मुख वै, निकसे इत ह्वै निकसे न हिये तै॥

चित्र-दर्शन पर महाकवि कालिदास का इसी प्रकार का एक परमोत्कृष्ट छन्द है

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥

मेघदूत

गेरू सो प्यारी को चित्र बनाय, सिला पै जबै निरखों धरि ध्यान मैं।
वाके दुओ पद-पंकज पै, परि कै जबै मेटनि चाहों गुमान मैं॥

बैरी विधाता हमारो हहा, मिलिबो नहिं चाहत ऐसी दशान में।
आनि घिरै घने वारि के बुंद, सरोरुह सी दुखिया अँखियान में॥
हरिनाथ

इसी प्रकार स्वप्न-दर्शन का विषय है। देवजी ने इस पर एक बड़ा ही मार्मिक छन्द कहा है। इस छन्द की भाव-सामग्री बिहारी के निम्नलिखित दोहे से संकलित की गई है, यद्यपि उनका विषय एक नहीं है। यह दोहा इस प्रकार है

यों दलिमलिअसि निर्दयी, दई कुसुम से गात।
कर धरि देखो धरधरा, अजहुँ न हिय को जात॥

देवजी का छन्द इस प्रकार है-

धाय के अंक में सोइ निसङ्क ह्वै, पंकज सी अँखियानि झुकाझुकी।
त्यों सपने में मिली अपने, पिय प्रेम पगी छबिहू की छकाछकी॥
ठाढ़े ही ठाढ़े गह्यो भुज गाढ़े, सो बाढ़ी बधू के हिये में सकासकी।
'देव' जगी रतियाँ हू गई, न तिया के गई छतिया की धकाधकी॥

इसी को काव्य-कौशल कहते हैं। देवजी ने अपने स्वप्न-दर्शन में कितना सौन्दर्य्य उपस्थित कर दिया है। स्वप्न-दर्शन पर अन्य कवियों ने भी बड़े बडे सुन्दर छन्द कहे हैं। परन्तु देवजी का यह छन्द अपने ढंग का निराला ही है।

२४ भृकुटी की उपमा काम-कमान से जी खोलकर दी गई है। संस्कृत कवियों ने इस पर खूब लिखा है।

उद्धूय बाहुयुगमायतगात्रयष्टिः
प्रातः कुरंगनयनी विजहाति जृम्भाम्।
मन्यामहे स्मररणात् पुरतो निवृत्त
कामो धनुः कुटिलतारहितं करोति।

और भी

मय्येवमस्मरणादारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहःप्रणयमप्रतिपाद्यमाने।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताद्याः
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य।

कालिदास

देवजी ने धनुष को तुला बनाया है और नेत्रों को पलड़ा। उसमें कन्दर्प-जौहरी द्वारा बाल्यकाल और तरुणकालरूपी जवाहिरों को तौलाया है। नई सूझ है। हमारे विचार से ऐसा रूपक अन्यत्र मिलना कठिन है।

भारी भर्‌यो विवि मोहन रूप, सुडोर दुहूँ लचि छोरनि डोलै।
नीको चुनी को लिलार मैं टीको, सुटेकि खिलार खरे गुन सोलै॥
बालपनो तरुनापनो लाल को, 'देव' बराबरी के बल बोलै।
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन, सुनैन पलानि तुला धरि तोलै॥

यही देव की मौलिकता है। प्राचीन परिपाटी पर पदार्पण करके आपने नये ढङ्ग पर लिखा है, और खूब लिखा है। उसी भाव पर एक अज्ञात कवि ने निम्नांकित छन्द निर्माण किया है

जाहरी मैन को नीको तुला, जुग नैन पला जहँ लाग्यो विशाल है।
है रतिनायक कौ धनु कैधों, चलावत सायक जासों कराल है॥
भौहैं लखे प्रिय भावती की, उपजै हिय माहिं नयो एक ख्याल है।
ढाल पै साँगी धरी है किधौं यह सान पै कैधों चढ़ी करवाल है॥

इस छन्द के रचयिता महोदय ने सन्देहालङ्कार का आश्रय लेकर कई कई विचार बाँधे, परन्तु उनमें वह कोमलता नहीं आई जो देव के छन्द में है। वास्तव में अनुकरण अनुकरण ही है। वह मौलिकता के सामने कभी नहीं ठहर सकता। इसी को भावसंहार कहते हैं। अनुकरणकर्ता महोदय देवजी की छाँह भी नहीं छू सकते हैं।

२५ खण्डिता नायिका के निम्नलिखित वर्णन में भी देवजी ने विशेष चमत्कार दिखाया है, यद्यपि इसकी साहित्य-सामग्री बिहारी के दोहे से ली गई मालूम होती है। दोहा इस प्रकार है

बाल कहा लाली भई, लोयनि कोयनि माँह।
लाल तिहारे दृगन की, पड़ी दृगनि में छाँह॥

यह खंडिता और उसके सापराध नायक का संवाद है। नायक ने पूछा कि हे प्रिये, आज तुम्हारे नेत्रों मे अरुणिमा क्यों है। खण्डिता ने उत्तर दिया कि कुछ नहीं, आपके नेत्रों की छाया इनमें पड़ी है। कैसा सुन्दर व्यंग्य है। कैसी मार्मिक फटकार है। देवजी का छन्द इसी भाव से मिलता-जुलता है।

देव का यह छन्द हमें बहुत दिनों से स्मरण है। उनके संग्रह में यह हमें दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। सम्भव है, इसका कोई पाठान्तर भी हो।

भोर भये मनभावन आये, औ प्यारी तिन्हे लखिकै दृग फेरे।
सीधे सुभायनि लाल कही, कहु काहेक लाल बिलोचन तेरे॥
बोलि उठी तिया मान भरी, औ गुमान भरे करि नैन तरेरे।
काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे॥

कविवर मतिराम ने भी इसी भाव से मिलता जुलता एक छन्द लिखा है। परन्तु वह मानवती नायिका का वर्णन है, खंडिता का नहीं। वास्तव मे यह छन्द भी बढ़िया है।

प्रीतम आये प्रभात प्रिया, मुसकात उठी दृग सों दृग जोरे।
आगे ह्वै आदर कै 'मतिराम', कहे मृदु बैन सुधा रस बोरे॥
ऐसे सयान सुभायन ही सौं, मिली मनभावन सों मन भोरे।
मान गो जानि तबै छबि या अँगिया की तनी न छुटी जबै छोरे॥

इस प्रकार भाव-साम्य के अनेकों प्रसंग मिल सकते हैं। लेख की वृद्धि के भय से हमने अधिक उदाहरण नहीं दिये।

--

भावविलास

(१)

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाये।
सील सयान सखीन सिखायो, सबै सुख सासुरेहू के सुनाये॥
बोलिए बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाये।
यों सुनि ओछे उरोजनि पै, अनुराग के अकुर से उठि आये॥

(२)

खोरि मैं खेलन लाईं सखी, सब बाल को भेष बनाइ नवीनो।
आरसी मे निज रूप निहारि, अनङ्ग तरङ्गनि सो मनु भीनो॥
जोति जवाहर हारन की मिलि, अञ्चल को छल क्यों पट भीनो।
हेरि इतै हरिनीनयना हरि, हेरत हेरि हरै हँसि दीनो॥

(३)

दिन द्वैक ते सासुरे आई वधू, मन में मनु लाज को बीज बयो।
कवि देव सखी के सिखाये मरूकै, नह्यो हिय नाह को नेह नयो॥
चितवावत चैत की चन्द्रिका ओर, चितै पति को चित चोरि लयो।
दुलही के बिलोचन-बानन कौ, ससि आज को सान समान भयो॥

(४)

सुनि के धुनि चातक-मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन मे, सखि राग तराग अचूकनि सों॥

'कवि देव' घटा उनई जु नई, वनभूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर की झूकनि सों॥

(५)

ठाढ़ी चितौत चकोर भयो, अनतै न इतै तू कहूँ चित दीजतु।
सामुहैं नंदकिसोर सखी, कवि को मुसक्यानि सुधारस भीजतु॥
भाग ते आइ उओ 'कवि देव', सु देख भटू भरि लोचन लीजतु।
तेरे री चंदमुखी मुख-चन्द पै, पूरन चन्द निछावरि कीजतु॥

(६)

आई ही गाइ दुहाइबे कों, सु चुखाइ चली न बछान को घेरति।
नैकु डराय नहीं कब की, वह माइ रिसाइ अटा चढ़ि टेरति॥
यों 'कवि देव' बड़े खन की, बड़रे दृग बीच बड़े दृग फेरति।
हौं मुख हेरति ही कब की, जब की यह मोहन को मुख हेरति॥

(७)

फूल चली जल केलि के, कामिनि, भावते के सँग भाति भली सी।
भीजे दुकूल में देह लसै, 'कवि देव' जू चम्पक चारु दली सी॥
बारि के बूँद चुवैं चिलकैं, अलकै छवि की छलकै उछली सी।
अञ्चल झीन झकै झलकै, पुलकै कुच कन्द कदम्ब कली सी॥

(८)

सुन्दरि सोवति मन्दिर मैं, कहूँ सापने मैं निरख्यौ नँदु-नंद सौ।
त्यौं पुलक्यौ जल सों झलक्यौ उर, औचक ही उचकौ कुचकंद सौ॥
तौ लगि चौंक परी कहि 'देव', सु जान परो अभिलाष अमन्द सौ।
आलिनि को मुख देखत ही, मुख भावती को भयो भोर कौ चन्द सौ॥

(९)

देव सुरासुर सिद्ध बधून को, एतौ न गर्व जितौ इह ती को।
आपने जोवन के गुन के, अभिमान सबै जग जानत फीको॥
काम की ओर सकोरति नाक, न लागत नाक को नायक नीको।
गोरी गुमानिन ग्वारि गमारि, गिने नहि, रूप रती को रतीको॥

(१०)

सोवत तें सखी जान्यो नहीं, वह सोवत तें घर आयौ हमारे।
पीत पटी कटि सों लपिटी, अरु साँवरे सुंदर रूप सँवारे॥
देव अबै लगि आँखिन तें, वह बाँकी चितौनि टरै नहि टारे।
सापने में चित चोरि लियो, वह मोररी मोर-पखौवनवारे॥

(११)

सापने में गई देखन हौं सुनि, नाचत नन्द यसोमति कौ नट।
वा मुसक्याइ के भाव बताइ के, मेरोइ खैंचि खरो पकरो पट॥
तौ लगि गाय रम्हाइ उठी, 'कवि देव', बधूनि मथ्यो दधि को घट।
चौंकि परी तब कान्ह कहूँ न, कदम्बन कुंजन कालिँदी कौ तट॥

(१२)

देव मनावत मोहन जू, कब के मनुहारि करैं ललचौहैं।
बातें बनाय सुनावै सखी, सब तातें औ सीरी रसौहैं रिसौहैं॥
नाह सो नेह तऊ तरुनी, तजि राति बितौति चितौति न सौहैं।
मानत नाहिं तिरीछेहि तानति, बान सी आँखें कमान सी भौहैं॥

(१३)

ता दिन तें अति व्याकुल है तिय, जा दिन तें पिय पन्थ सिधारे।
भूख न प्यास बिना व्रजभूषन, भामिनि भूषन भेष बिसारे॥
पावत पीर नहीं 'कवि देव', करोरिक मूरि सबै करि हारे।
नारि निहारि निहारि चले, तजि वैद बिचारि बिचारि बिचारे॥

(१४)

अरि कै वह आज अकेली गई, खरिके हरि के गुन रूप लुही।
उनहू अपनों पहिराय हरा, मुसकाइ के गाइ के गाय दुही॥
'कवि देव' कह्यौ किनि काऊ कछू, तब तें उनके अनुराग छुही।
सबही सों यही कहै बाल-बधू, यह देखौ री माल गुपाल गुही॥

(१५)

श्री वृषभानलली मिलि कै, जमुनाजल केलि कों हेलिनु आनी।
रोमवली नवली कहि 'देव', सु सोने से गात अन्हात सुहानी॥
कान्ह अचानक वोलि उठे, उर वाल के व्याल बधू लपटानी।
धाइ को धाइ गही ससवाइ, दुहूँ कर झारत अग अमानी॥

(१६)

यह तौ कछु भामिती कोसौ लसै, मुख देखत ही दुख जात है ह्वै।
सफरी मद मोचन लोचन ये, परिहैं कहूँ मानों चितौति ही च्वै॥
कवि 'देव' कहै कहिए जुग जो, जल जात रहे जलजात में ठ्वै।
न सुने नवौ काहू कहूँ कबहूँ, कि मयंक के अंक मे पंकज द्वै॥

(१७)

यह कैधों कलाधर ही की कला, अबला किधौं की कैधों सची।
किधौं कौन के भौन की दीप-सिखा, सखी कौन के भाग है भाल खची॥
तिहुँ लोक की सुन्दरताई की एक, अनूपम रूप की रासि मची।
नर, किन्नर, सिद्ध. सुरासुरहून की, बञ्चि वधूनि विरञ्चि रची॥

(१८)

कहु कौन की चम्पक चारु लता, यह देखि सबै जन भूलि रहै।
'कवि देव' ये तौ मैं कहा बिलसे, बिवसी फल से धरि धूलि रहै॥
तिहि ऊपर को यह सोम नवोतम, तौम चहूँ दिसि भूलि रहै।
चित मे चितु चोरत कोए तहाँ, नवनील सरोज से फूलि रहै॥

(१९)

स्याम सयाने कहावत हैं कहौ, आजु को काहि सयानु है दीनो।
'देव' कहै दुरि टेर कुटीर मैं आपनो वेर वधू उहि लीनो॥
चूमि गई मुँह औचक ही, पटु लै गई पै इन वाहि न चीन्हो।
छैल भले छिनही मै छले, दिन ही मै छबीली भलो छल कीन्हो॥

(२०)

बाल लतान मैं बाल को बोल, सुन्यों कहूँ संग सखीन के टेरत।
काहू कही हरि राधा यही, दुरि 'देव' जी देखी इतै मुख फेरत॥
है तब तें पल एक नहीं कल, लाखनि लों अभिलाखनि घेरत।
याही निकुंजहि नन्दकुमार, घरीक मैं बार हजारक हेरत॥

(२१)

पहिले सतराइ रिसाइ सखी, यदुराइ पै पाइ गहाइए तौ।
फिरि भेंटि भटू भरि अंक निसङ्क, बड़े खन लौं उर लाइए तौ॥
अपनो दुख औरनि कौ उपहासु, सबै 'कवि देव' बताइए तौ।
घनस्यामहिं नैं कहु एक घरी कौ, इहाँ लगि जो करि पाइए तौ॥

(२२)

आसव सेइ सिखाये सखीन के, सुन्दरि मन्दिर मैं सुख सोवै।
सापने मैं बिछुरे हरि हेरि, हरैइ हरैं हरनी दृग रोवै॥
'देव' कहै उठि के बिरहानल, आनँद के अँसुवान समोवै।
आजु ही भाजि गई सब लाज, हँसै अरु मोहन को मुख जोवै॥

(२३)

या डर हौं घर ही मैं रहौं, 'कवि देव' दुरो नहिं दूतनि को दुख।
काहू की बात कही न सुनी मन, माहिं बिसारि दियो सिगरो सुख॥
भीर मैं भूले भये सखि मैं, जब ते जदुराई की ओर कियो रुख।
मोहि भटू तब ते निस द्यौस, चितौत ही जात चवाइन कौ मुख॥

(२४)

पुकारि कही मैं दही कोइ लेउ, यही सुनि आइ गयो उत धाई।
चितै 'कवि देव' चलेई चले, मन मोहनी मोहनी तान सी गाई॥
न जानति और कछू तब तें, मन माहिं वही पै रही छबि छाई।
गई तौ हती दधि वेचन बीर, गयो हियरा हरि हाथ बिकाई॥

(२५)

मेरेऊ अंक जो आवै निसक तौ, हैं उनके परजङ्कहि जैहैं।
पान खवाइ उन्हैं पहिलैं तब, नाथ के हाथ के पानंनि खैहैं॥
ऐसी न होइ जू देह की दीपति, देव को दीप समीप देखैहैं।
मोहन को मुख चूमि भटू तब, हौं अपनो मुख चूमन दैहौं॥

(२६)

हार बिहार में छूटि परै अरु, भूषन छूटि परे हैं समूलनि।
जोरि सबै पहिरायौ सम्हारि कै, अङ्ग सम्हारि सुधारि दुकूलनि॥
सीतल सेज बिछाइ के बालम, बाल मृनालनि के दल मूलनि।
वैसिय बेनी बनाइ लला, गहि गूँधौ गुपाल गुलाब के फूलनि॥

(२७)

भारे हौ भूरि भराई भरे अरु, भाँति सभाँतिनु के मन भाये।
भाग बडे वही भामती के जिहि, भामते लै रँगभौन बसाये॥
भेषु भलोई भली बिधि सों करि, भूलि परे किधौं काहू भुलाये।
लाल भले हो भले सुख दीनों, भली भई आजु भले बनि आये।

(२८)

भोर ही भौन मैं भावतो आवत, प्यारी चितै कै इतै दृग फेरे।
बाल बिलोकि के लाल कह्यो कछु, काहे ते लाल बिलोचन तेरे॥
बोलि उठी सुनि के तिय बोल, 'सुदेव' कहै अति कोप करेरे।
काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे॥

(२९)

ब्याह की बीथि बुलाये गये सब, लोगनु लागि गये दिन दूने।
'देव' तुम्हारी सौं बैठी अकेलियै, हौं अपने उर आनति ऊने।
क्यों तिन्हे वासर बीतत वीर, बनाये हैं जे बिधि बन्धु विहूने॥
कौन घरी घर के घर आवें, लगैं घर घोर घरीक के सूने॥

(३०)

मालिनि ह्वै हरि माल गुहैं, चितवैं मुख चेरी भये चित चाइनि।
पान खवावैं खवासिन ह्वै कै, सवासिन ह्वै सिखवैं सब भाइनि॥
बेदी दै 'देव' दिखाइ कै दर्पन, जावक देत भये अब नाइनि।
प्रेम पगे पिय पीत पटी पर, प्यारी के पोंछिय मारी से पाइनि॥

(३१)

होरी हरें हरे आइ गई, हरि आये न हेरि हिये हहरैगी।
बानि बनी बन बागनि की, 'कविदेव' बिलोकि बियोग बरैगी॥
नाउँ न लेऊ बसन्त कौ री, सुनि हाय कहूँ पछिताय मरैगी।
कैसे कि जीहै किसोरी जो केसरि, नीर सों वीर अबीर भरैगी॥

(३२)

नेह सों नीचे निहारि निहोरत, नाहीं कै नाह की ओर चितैबो।
पीठि दै पीठि मरोरि कै डीठि, सकोरि कैं सौंह सौं भौंह चढ़ैबो॥
प्रीतम सों 'कवि देव' रिसाइ के, पाइ लगाइ हिये सों लगैबो।
तेरो री मोहि महासुख देत, सुधा रसहू तै रसीलौ रिसैबो॥

(३३)

मालती सों मलिए निस द्यौसहू, या सुखदानि ह्वै ज्यों समुझैयै।
प्रीति पुरानी पुरैनि के रैनि, रहौ निथरे न विपत्ति बहैयै।
ऊपर ही गुन रूप अनूप, निरन्तर अन्तर मैं पतियैयै॥
ये अलि दूलह भूलेहू देव जू, चम्पक फूल के मूल न जैयै॥

(३४)

प्यारी के प्रान समेत पियो, परदेस पयान की बात चलावै।
'देव जू' छोभ समेत छपा, छतिया में छपाकर की छबि छावै॥
बोलि अली बन बीच बसन्त को, मीचु समेत नगीच बतावै।
काम के तीर समेत समीर, सरीर में लागत पीर बढ़ावै॥

(३५)

कौन के होइ नहीं मैं हुलासु, सुजात सबै दुख देखत ही दबि।
जाहि लखैं बिलखै यहि भाँति, परै मनु सौति सरोजन पै पबि।
याही ते प्यारी तिहारी मुख-द्युति, चन्द-समान बखानत हैं कबि॥
आनन-ओप मलीन न होति, पै छीनि कै जाति छपाकर की छबि॥

(३६)

हौही हौ और कि ये सब और कि, डोलत आजु घनै औरे समीरौ।
यातें इन्हें तन ताप सिरातु पै, मेरे हिये न थिरातु है धीरौ॥
ये कहैं कोकिल कूक भली, मुहि कान सुने जम आवत नीरौ।
लोग ससी को सराहत री सब, तोहूँ लगै सखी साँचेहू सीरौ॥

(३७)

डोलति हैं यह कामलतासु, लचीं कुचे गुच्छ दुरूह उधा की।
कोल सनाल कि बाल के हाथ, छिपी कटि कान्ति की भाँति सुधा की॥
देव यही मन आवती है, सविलास वधू विधि हैं वहुधा की।
भाल गुही मुक्तालर माल, सुधाधर मैं मनौ धार सुधा की॥

(३८)

बेली नवेली लतानि सों केली के, प्रात अन्हार सरोवर पावन।
पिंजर मंजर का छहराइ, रजत्तति छाइ छपाइ छपावन॥
सीतल मन्द सुगन्ध महा, बपुरे बिरही वपुरी नित पावन।
आजु को आयो समीर सखी री, सरोज कँपाइ करेजो कँपावन॥

(३९)

एक तुहीं वृषभानुसुता अरु, तीनि हैं वे जु समेत सची हैं।
औरन केतिक राजन के, कविराजन की रसनायै वची हैं॥
देवी रमा कवि देव उमा ये, त्रिलोक मैं रूप की रासि मची हैं।
पै वर नारि महा सुकुमारि, ये चारि विरञ्चि विचारि रची हैं॥

(४०)

बाल बिलोकत हीं झलकी सी, गुपाल गरै जलविन्द की मालै।
आपुस मैं मुसक्यानी सखी, हरि देव जू बातै बनाइ बिसालै॥
साँप ज्यों पौन गिलै उगिलै, विष यों रवि ऊषम आनि उगालै।
जात धुस्यो घर ही मे वने, तपधीनं भयो तनुधाम के घालै॥

अष्ट जाम

(१)

सराहै सुरासुर सिद्ध समाज, जिन्हैं लखि लाजत हैं रति मार ॥
महा मुद मंगल संग लसैं, विलसैं भवभार निवार निवार ॥
विराजै त्रिलोक निकाई की ओप, मुनीस मनोहर रूप अपार ।
सदा दुलही वृषभानुसुता, दिन दूलह श्री बृजराजकुमार ॥

(२)

पगी पिय प्रेम जगी चहुँ जाम, रँगी रति रंग भयो परभात ।
कियो न वियोग लियो भरि भोग, पियो रस ओघ हियो न अघात ॥
गुलाब लै लै बहुभाँतिन सो, छिरकै छतियाँ तन त्यौं न अमात ।
तजैं रँग ना रँग केसरि को, अँग धोवत सों-रँग बाढ़त जात ॥

(३)

लखि सासुहिं हास छपाइ रहै, ननदी लखि जी उपजावति भीतहिं ।
सौतनि सों सतराति चितौति, जिठानिनि सों जिय ठानत प्रीतहिं ।
दासिन हूँ सों उदासिनि 'देव', बढावति नेम सों प्रेम प्रतीतहिं ।
धाइ सों पूछति बातैं विनै की, सखीन सों सीखै सोहाग की रीतहिं ॥

(४)

सोहै सलोनी सोहाग भरी, सुकुमारि सखीनि समाज मढी सी ।
'देव' लला गये सोवत ते, मुख माहँ महा सुखमा घुमडी सी ॥

प्यारी की पीक कपोल मैं पी के, बिलोकि सखीनि हँसी उमड़ी सी।
सोहन सैन न लोचन होत, सकोचन सुंदरि जाति गड़ी सी॥

(५)

आइ हुती अन्हवावन नाइनि, सोंधी लिये कर सूधे सुभाइनि।
कंचुकि छोरि उतैं उपटैवे को, ईंगुर से अँग की सुखदाइनि॥
'देव' सरूप की रासि निहारति, पाँय सों सीस लै सीस ते पाइनि।
ह्वै रही ठौरहीं ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोढ़ी दिये ठकुराइनि॥

(६)

कुजगलो ह्वै अलो पठई बन, गूढ़ थली ह्वै लै आई सो नाहैं।
'देवजू' दोऊ मिले जबहीं, रस-मेह सनेह नदी अवगाहैं॥
फूलन के गहने लै दुहून के, अन्तर मैं पहिरावन चाहैं।
लालन कै गल मेलि सी राखति, बाल सो चंपकबेलि सी बाहैं॥

(७)

आपुस मै रस मैं रहसैं, बिहँसैं वन राधिका कुंजविहारी।
स्यामा सराहति स्याम की पागहि, स्याम सराहत स्यामा की सारी॥
एक ही दर्पन देखि कहैं तिय, नीके लगौ पिय प्यौ कहै प्यारी।
'देव' सुबालम बाल के साथ, त्रिलोक भई बलि है बलिहारी॥

(८)

प्यारे तिहारे के मोहिवे को, सब सौति सिंगार करैं बहुतेरो।
,आपुनो सो प्रनु हारि करैं, मनुहारि निहारि सखी मन तेरो॥
तेरे सोहाग के ऊपर वारिये, औरनि को रंग राग घनेरो।
'देव' निसाकर जोति जगै न, जगै जुगुनून को पुंज उँजेरो॥

(९)

आँखिनि मैं पुतरी ह्वै रहैं, हियरा मैं हरा ह्वै सदा सुख लूटै।
अंगनि संग रहैं अँगराग ह्वै, जीव मैं जीवन-मूरि ह्वै जूटै॥
देव जू प्यारे के न्यारे नये, गुन मो मन मानिक ते नहिं टूटै।
और तिया सो न तो बतिया, नहिं मो छतिया से छिनौ भरि छूटै॥

(१०)

बैठी वधू गुर लोगनि मैं, पिय के बिछुरे छिन भौन न भावै।
पाछिलो जाम गयो जुग सो, अब जामिनि क्योंकरि कामिनि पावै॥
चौंकि चितै करि त्यौं छबि 'देव', सुबातनहीं दबि द्यौस गमावै।
धाइ सों बैन सखीनि सों सैन, सुभैन के चैन सो नैन नचावै॥

(११)

दासी सखी कमला सी लिये सँग, आइ गई अबला सुख साने।
ता रँग भौन मै भावतो आयो, उतै उठ ही सो महा हित ठाने॥
नेकहि के बिछुरे जुग से गये, सोचत दोऊ सकोच समाने।
सेज पै सोहै जऊ मिलिवै, केतऊ मिलिवे को महा अकुलाने॥

(१२)

पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी बहू, लखि त्यौं हँसि भौंह मरोरी।
बाँह गही ललचाइ लला मुख, नाहीं कही मुसकाइ किसोरी॥
तोरि न लाज जेठानी सखी, जन 'देव' ढिठाई करै नहिं थोरी।
लाल जितै चितवै तिय पै, तिय त्यौं त्यौं चितौति सखीनि की ओरी॥

(१३)

चितौति वनै नहिं रंग की रैनि, इतै त्यौं चितौति सखीनि की न्याई।
चुरैल ह्वै लागी अजौं लगि लाज, सु कौ लगि बाँधे हिये महँ जाई॥
मनोज की ओज सहो न परै, कवि 'देव' रहो न परै सकुचाई।
चली रस-वातै भली यक बार, चली मुख मोरि सखी मुसुकाई॥

(१४)

दीन्ही विदा मुसकाइ सखीनि को, कीन्ही कछू भृकुटी भरि भालहिं।
चातुरता चित वाढी किसोरी के, आतुरता लखि 'देव' गोपालहिं॥
सोहै चितै अरसोहै तिया, तिरछोहैं हँसोहै सँवारति मालहिं।
पैनी चितौनि सों चूरि कै चित्त, सु दूरि भये ललचावति लालहिं॥

(१५)

लीन्हि उसास मलीनि भई दुति, दीन्हीं फुँदी फफुँदी की छपाइ कै।
लागी सुधारन आँगी वहू लखि, 'देव' गोपाल उठे अकुलाइ कै॥
औचकि ही उचि ऐंचि लई गहि, गोरे वहे करकोर उचाइ कै।
चंपक माल सी माल भुजानि मैं. राखी भुजानि हिये लपटाइ कै॥

(१६)

सँग सोवत हीं पिय के मुख सों, मुख सौं नहिं योग वियोग सहै।
सपने महँ स्याम विदेस चले, सु कथा कवि 'देव' कहाँ लों कहै॥
तिय रोइ सकी न सुनी ससकी, हँसि प्रीतम त्यौं भरि अङ्क गहै।
वड़भागी लला डर लागी जऊ, तिय जागी तऊ हिलकी न रहै॥

(१७)

कै वहिको कुकुरा बहु कूर कि, वाकी तिया कहुँ काहु सुनी है।
बोलि उठै अधरै अधरातक, सौति के हेत कै खेत धनी है॥
चाकर चोर कै पाहरू खान कै, सेही सिवा कैधों फेर फनी है।
सोइए श्रीघनश्याम घरीक, न नैन उघारिए रैन घनी है॥

(१८)

वा चकई को भयो चित चीतो, चितौति चहूँ दिसि चाय सों नाची।
ह्वै गई छीन कलाधर की छबि, जामिनि जोन्ह मनो जम जाँची॥
बोलत बैरी बिहंगम 'देव' सो, सौतिनि के घर संपति माची।
लोहू पियो जो बियोगिनी को, अहै सामुहे लाल पिसाचिनि प्राची॥

(१९)

हौस गँवाइ, करी सुख-केलि, तिया तबही सब अंग सुधारे।
तानि लियो पट घूँघट मैं, झलकैं दृग लाल भरे झपकारे॥
'देव' जू देखि लगे ललचान, लला के कपोल कँपैं पुलकारे।
मार मनौ सर सार के रोस कै, एक ही वार हजारक मारे॥

(२०)

सुख सेज के मंदिर ते गुरुमंदिर, सुंदरि आइ गई सुधरी।
गुर लोगनि के पग लागति प्यार सों, प्यारी बहू लखि सौति जरी॥
कवि 'देव' असीसत ईस करो तुम, कोटि बरीस लों सीस धरी।
पिय के हिय मे बसियो नित हीं, बड़भागिनि भाग सोहाग भरी॥

भवानी-विलास।

(१)

श्री विधि वानी जु वेद बखानी, पुराननि जो सिव संग भवानी।
जो कमला कमलापति के सँग, 'देव' सचीस सची सुखदानी।
दीपसिखा वृज मन्दिर सुन्दरि, जागति ज्योति चहूँ युग जानी॥
सिद्धि की साधिका साधु समाधिका, सो वृजराज की राधिका रानी॥

(२)

सुनि 'देव' अनूप कला बृजभूप की, रूपकला अकुलान लगी।
पहिचानन प्रीति अचान लगी, लखिबे को कछू ललचान लगी॥
भरि भाइक भौंह कमान चढाइ कै, तानन लोचन बान लगी।
कहुँ कान्ह कहानी सी कान लगी, तब ते तन प्रान बिकान लगी॥

(३)

स्यामा की स्याम की नाम सखीनि, सुनायो सुनावत कीन्हां कछू उन।
'देव' गोपाल गये गड़ि ही में, ज्यों आँक कछू बिन जाने लिखैं घुन॥
खेल ते औरई खेल भयो, खिन एक न खेलत खेल सुन्यो सुन।
काननि पैठि कै आँखिनि ह्वै हरि, कै हिय वैठि रहे हरि के गुन॥

(४)

नंदलला वृषभानलली भये, सामुहें 'देव' संयोग सुभै कै।
लोयन लोइन लागे अनूप, दुहूँ के दुहूँ रस रूप लुभै कै॥

मन्द हँसी अरविन्द ज्यों विन्द, अँचै गये दीठि में दीठि खुभै कै।
कज की मजिम खजन मानौ, उड़ै चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै॥

(५)

जब ते कुँवर कान्ह रावरी कलानिधान
कान परी बानी वाके सुजस कहानी सी।
तब ही ते 'देव' देखी देवता सी हँसति सी
खीझति सी रीझति सी रूसति रिसानी सी॥
छोही सी छली सी छीनि लीनी सी छकी सी छीन
जकी सी चकी सी लागी थकी थहरानी सी।
बीधी सी बधी सी विष बूडी सी बिमोहित सी
बैठी बाल बकति बिलोकत बिकानी सी।

(६)

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै
सासैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि औचकि उचकि 'देव'
थकि थकि बकि बकि उठति बई बई॥
दुहुन के गुन रूप दोऊ बरनत फिरै
पल न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन कौ मन भयो राधामय
राधा-मन मोहि मोहि मोहनमयी भई॥

(७)

बैठी सीसमन्दिर मे सुन्दरि सवार ही ते
मूँदि कै केवार 'देव' छवि सो छकति है।
पीत पट लकुट मुकुट बनमाल धरि
भेप कर पिय को प्रतिबिम्बित मे तकति है॥
होति न निसंक उर अंक भरि भेटिबे को
भुजनि पसारति समेटति जकति है।
चौंकति चकति उचकति चितवति चहूँ
झूम ललचाति मुख चूमि न सकति है।

(८)

मौन गह्यौ कल कंठ कपोतनि, सारस हंस हरे चलि हेरेई।
सार्यो सुबानि सुबानि परी, जो सुबानि सुनै नित साँझ सबेरेई॥
चौंकत से चकई चकवा कहि, 'देव' उदै मुख चन्द उजेरेई।
भारियै भीर करे रहैं भौंरनि, मोर चकोर रहैं घर घेरेई॥

(९)

देखि न परति 'देव' देखि देखि परी बानि
देखि देखि दूनी दिख साध उपजति है।
सरद उदित इन्दु बिन्दु सो लगत लखे
मुदित मुखारबिंद इन्दिरा लजति है॥
अदभुत ऊख सी पियूख सी मधुर बानी
सुनि सुनि स्रवननि भूख सी भजति है।

मार कियो मन्त्री सुकुमार परतन्त्री बैन,
बिना तार तंत्री जीभ जन्त्री सी बजति है।

(१०)

ह्वै रहै कमल कमलाकर कमलमुखी,
फूलनि में फूलि कै खरीयै खिलि जाति है।
चित्रनि से चित्र ते बिचित्र होति चित्रिनी,
अनूप चित्रसारी के सरूप हिलि जाति है॥
दीपनि समीप दीपसिखा ह्वै न पैये 'देव',
चन्द्रमुखी चाँदनी महल मिलि जाति है।
द्यौस हू न दीसै सीसमन्दिर में सुन्दरि,
प्रकासि प्रतिबिम्बनि प्रभा मे पिलि जाति है॥

(११)

आई बरसाने ते बोलाई बृषभानुसुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक्र चकवानि के चकाये चकचोटनि सों,
चौंकत चकोर चकचौंधा सी चकै गई॥
नन्द जी के नन्दजू के नैननि अनन्दमयी,
नन्दजू मन्दिरनि चन्दमयी छै गई।
कंजनि कलिनमयी गूँजति अलिनमयी,
गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई॥

(१२)

कोमल बानि बड़ेन की कानि, हरै मुसकानि सनेह सनी की।
सील सलोनि सचिन्त चितौनि, चितै ललचौनि सुभाइ बनी की॥
सेज पै सौति करेजिन साल, मनोज के ओज मजेज मनी की।
'देवजू' आपन जोबन रूप, धरोहरि सी धन राखै धनी की॥

(१३)

पाइ धरै कर दाबि हियो, उर देवर के पग नेवर दावै।
देखि रहै ननदै मन दै, अरु सासुहि हेरि उसास न आवै॥
प्रान बसै प्रतिप्रान के प्राननि, भूषन भोजन पान न भावै।
देवजू दर्पन ह्वै चित निर्मल, प्रीतम को प्रतिबिम्ब दिखावै॥

(१४)

दौरी फिरै फिरकी सी दुहूँ दिसि, 'देव' दुहूँ गुन बाँधि कै ऐंची।
लोक की लीक इतै न लघौ, उत नेह नये बा खये गहि खैंची॥
लाज ज्यो बाज चिरी झपटी, कपटी कुल के उर अन्तर कैंची।
या तन तेज न तेहो जुदो, पर रे मन तैं अनतैं कहुँ बैंची॥

(१५)

आजु मिले बहुतै दिन भावते, मेटत मेट कछू मुख भाखो।
ये भुज भूपन मो भुज बाँधि, भुजा भरि कै अधरारस चाखो॥
दीजिये मोहि ओढ़ाइ जरी पर, कीजिये जू जिय जो अभिलाखो।
'देव' हमैं तुम्हैं अन्तर पारत, हार उतारि इतै धरि राखो॥

(१६)

चम्पक-पात से गात मरोरि, करोरिक भाइ सुभाइ सँचैयत।
मो मिसि भेटि भटू भरि अंक, मयंक से आनन ओठ अँचैयत॥
'देव' कहै बिन बात चले, नवनील सरोज से नैन नचैयत।
जानति हौं भुज मूल उचाइ, दुकूल लचाइ लले ललचैयत॥

(१७)

काम की कुमारी सी परम सुकुमारी यह,
जाकी है कुमारी महाभाग वा जनक के।
सलज सुसील सीलताई की सलाका सैल-
सुता ते सलोनी बैन बीना के भनक के॥
एबी अबही तें बनदेवी ऐसी देखी 'देव',
देवी तें अगन गुन गनैहौ गनक के॥
कनक बनक तन तनक तनक तन,
झनक मनक कर कंकन कनक के।

(१८)

आयो ओट रावटी झरोखे झाँकि देखो 'देव',
देखिबे को दाँउ फिरि दूजे द्यौस नाहने।
लहलहे अंग रंगमहल के अगन मैं,
ठाढ़ी वह बाल लाल पगनि उलाहने॥
लोने मुख लगनि नचनि नैन कोरनि की,
दूरति न और ठौर सुरति सराहने।

बाम कर बार हार आँचर सँवारै करै,
कैधौं छन्द कन्दुक उछारै कर दाहिने ॥

(१९)

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि झलकनि जलकननि की,
बिना बेनी बन्दन बदन सोभा बिकसी ॥
तजि तजि कुंज जेहि ऊपर मधुप-पुंज,
गुंजरत मंजुरव बोलै बोल पिक सी।
नैननि हँसाइ नेकु नीबी उकसाइ हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर ते निकसी ॥

(२०)

सकल कलानि भरी सकल कलानिधि सी,
सुतनु बखानियत खानि रतननि की।
सोभै शुभ बानी सी बिमोहै शुभ बानी बोलि,
हंस चढ़ी बानी ज्यों सयानी जतननि की ॥
'देव' कमनीय कमला हू ते कमलमुखी,
कोमल बिमल पति दुःख पतननि की।
सोभा सविवेक एक राधिका कुँवरि पर,
वारौ रति रमनी अनेक अतननि की ॥

(२१)

भार भर्यौ बिबि भौंहनि रूप, सु ओर दुहूँ चलि-छोर न डोलै।
नीको चुनी को जराइ को टीको, सुटेकि खेलार खरे गुन खोलै॥
बालपनो तरुनापन बाल को, 'देव' बराबरि के बर बोलै।
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन ज्यौं, नैन पलानि तुला धरि तोलै॥

(२२)

जेठी बडीन में बैठी बहू उत, पीठि दिये पिय दीठि सकोचन।
आरसि की मुदरी दृग दे, पिय को प्रतिबिंब लखै दुख मोचन॥
सो परछाह निहारत नाह, चढी चित माहँ गड़ी गुर सोचन।
देव सुभौंहनि भै उपजाइ, भजाइ लै जाइ लजाइ कै सोचन॥

(२३)

मान भरी भृकुटी गति ग्रीव, अनीव सबै गुन लो कुलही के।
कौलि सो पाइ करौ कमला भरे, जोबन तौल हिये उलही के॥
'देव' दया भरे बोल सुसील, कपोल ज्यौं प्रेमपला तुलही के।
भाग भरो मुख ओठ सुधा भरे, लोयन लाज भरे दुलही के॥

(२४)

नाह सों नेह गयो उनयो, सु निरन्तर अन्तर हार समानी।
हेरि कै हारी हितू हित की, चित की गति पै, न परै पहिचानी॥
चौपरि पासे चलावति हाय, लगी मुख सो सुखदाइक बानी।
आँखिनि आरसि की मुदरी लगी, कानन मैं लगी कान्ह कहानी॥

(२५)

न्योते गई वृषभानु-सुता, ललिता के जहाँ पति प्रीति पढ़ी है।
भीति मैं प्रीति मैं देखि लिखे, नवला के हिये नवलाज बढ़ी है॥
आँखिनि भीजी सी अंग पसीनी सी, छोभनि छीजी सी भौंह भढ़ी है।
चौंकी चकी ससकी नसकी, चितै मित्त की मूरति चित्त चढ़ी है॥

(२६)

हौं सपने गई देखन को, कहूँ नाचत नन्द जसोमति को नट।
वा मुसकाइ कै भाव बताइ कै, मेरोई खैंचि खरो पकरो पट॥
तौ लगि गाइ बगाइ उठी, कहि 'देव' बधूनि मथ्यौ दधि को मट।
जागि परी तौ न कान्ह कहूं, न कदंब न कुंज न कालिंदि को तट॥

(२७)

धाइ कै अंक में सोई निसंक ह्वै, पंकज सी अँखियानि भकाभकी।
त्यों सपने मे मिले अपने पिय, प्रेमपने छबि ही की छकाछकी॥
ठाढ़े ही ठाढ़े भरी भुज गाढ़े, सुबाढ़ी दुहूँ के हिये में सकासकी।
'देव' जगी रतियाऊ गई, न तिया के गई छतिया की धकाधकी॥

(२८)

खोरि में खेलन आवतीयै, न तौ आलिनि के मत मैं परती क्यौं।
'देव' गोपालहि देखतीयै, न तौ या विरहानल मैं जरती क्यौं॥
वापुरी मंजु रसाल की वालि, सुभालि सी ह्वै उर मैं आरती क्यौं।
कोमल कूकि कै क्वैलिया कूर, करेजनि की किरचै करती क्यौं॥

(२९)

राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को, पाती लिखै लिखि राधिकै ध्यावै॥
राधे ह्वै जारत ही छिन मै वह, प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपु मैं अपुनही उरझै, सुरझै बिरुझै समुझै समुझावै॥

(३०)

ना खिन टरत टारे आँखि न लगत पल,
आँखिनि लगे री स्याम सुन्दर सलोने से।
देखि देखि गातन अघात न अनूप रस,
भरि भरि रूप लेत लोचन अचोने से॥
ए री कहि को है। हौं कहा हौं कहा कहति हौं,
कैसे बन कुंज 'देव' देखियत भौने से।
राधे है। सदन बैठी कहती हो कान्ह कान्ह,
हा हा कहि कान्ह वे कहाँ हैं कौने से॥

(३१)

जे बिन देखे गये दिन री, तिनको पछिताव अजौं हिय है ये।
'देव' जू देखि तिन्हैं हौं दुखी भई, या जिय को दुख काहि सुनैये॥
देखत देखत देखत ही रही, आपनी देह न देखन पैये।
देखे बिना दिखसाध नहीं, मरौ देखु री देखत हूँ न अघैये॥

(३२)

आँखिनि में पुतरी ह्वै रसै, हियरा में हरा ह्वै सबै सुख लूटै।
अंगनि संग बसै अँगराग ह्वै, जीव ते जीवनमूरि न फूटै॥

'देव' जू प्यारे के न्यारे न री गुन मो मन मानिक ते नहिं टूटै।
और तिया सुनौ तौ बतिया करै मो छतिया ते छनौ जब छूटै॥

(३३)

रूप के मन्दिर साँवरो सुन्दर चाल चलै गुन गर्व गहीली।
जोबन के वनमाली हँसै अलसानी हँसै अँखिया उनमीली॥
'देव' सुने छबि सीस धुनै अबलाजन जे अब लाज लजीली।
रैहै क्यों ऊजरी गोकुल मै ब्रजगूजरी गोकुल की गरबीली॥

(३४)

ताप चढ़ै ज्यौं चढ़ावत चन्द न राखति चाँदनी चैन रितै कै।
फूल निहारत सूल उठै री फुलेल भगे खुलि खेल बितै कै॥
'देव' दुरे कब लौं रहिये ,जू अनोखे नये यहि नेह नितै कै।
आँखिनि ओट ही राखि भटू चित चोट सी लागति चंद चितै कै॥

(३५)

भेष भये विष भावै न भूषन भूप न भोजन को कछु ईछी।
मीचु की साध न सोंधे की साध न दूध सुधा दधि माखन छीछी॥
चन्दन तौ चितयो नहि जात चुभी चित माहिं चितौनि तिरीछी।
फूल ज्यौं सूल सिला सम सेज, बिछौननि बीच बिछी मनौ बीछी॥

(३६)

जीभ कुजाति न नेकु लजाति, गनै कुल-जाति न बात बह्यौ करै।
'देव' हिये नव नेह लगाय, विदेह की आँचनि देह दह्यौ करै॥
जोउ अज्यानु न जानत ज्यानु, सुजान अजान के ध्यान रह्यौ करै।
काहे को मेरो कहावतु मेरो जु, पै मन मेरो न ,मेरो कह्यौ करै॥

(३७)

बंसीधर धरी बंसी बंस तेरे बंस ही की
    बंसीबट ते ही छबि छाँह छहिराई है।
मेरे वीर मोर मोरचन्द्रिका दई तैं,
    चकोर बृजचन्द ओर दीठि गहराई है॥
'देव' दुख मानि तानि पल्लवलतानि पूछै,
    बावरी न बानि तजै केतो बहिराई है।
बिमल बिसाल गुन गूँदि कै गोपाल गरे,
    मालती पुहुप माल तैं ही पहिराई है॥

(३८)

पीछे पखा चौंरहारी ज्यौं की त्यौं सुगन्धवारी,
    ठाढ़ी बाईं धाईं धनी फूलनि के हार हे।
दाहिने अँतर ओर अँतर तमोर लिये,
    सामुहे लपेटे पट भोजन के थार गहे॥
नित के नियम हितू हित के बिसारि 'देव',
    चित के बिसारे बिसराये सब बार हे।
सम्पाघन बीच ऐसे चम्पा बन बीच हूली,
    डारि सी कुँवरि कुम्हिलानी फूली डार हे॥

(३९)

मंजुल मंजरी पजरी सी है, मनोज के ओज सँवारत चीरन।
भूख न प्यास न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के ज्वर जीरन॥

'देव' घरी पल जाति जुरी, अँसुआन के नीर उसास समीरन।
आह न जाति अहीर अहे तुमै, कान्ह कहा कहैं काहू की पीरन॥

(४०)

लाल विदेश वियोगनि बाल, वियोग की आगि जई झुरि झूरी।
पान सों पानी सों प्रेम कहानी सों, प्रान ज्यों प्राननि यों मत हूरी॥
'देवजू' आजु ही ऐबे कि औधि, सु बीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायौ उडाइवे को, उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी॥

(४१)

बालम ब्रिरह जिन जान्यौ न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यौं ज्यौं बरसै बरफराति।
बीजन डोलावत सखीजन सुसीतहूँ मैं,
सौति के सराप तन तापनि तरफराति॥
'देव' कहै सांसनि ही अँसुवा सुखात मुख,
निकसै न बात येती ससकी सरफराति।
लोटि लोटि परति करौंट दुख बाढ़ी लै लै,
सूखे जल सफरी ज्यौं सेज पर फरफराति॥

(४२)

रच्यौ कच मौरु सुमेरु-पखा, धरि काक-पखा मुख राखि अराल।
धरी मुरली अधराधर लै, सु रली सुरलीन ह्वै 'देव' रसाल॥
पीतम्बर काछनी पीतपटी करि, बालम बेष बनावति बाल।
उरोजन खोज निवारिवे को, उर पैन्ही सरोजनि की बनमाल॥

(४३)

धरे मुख पै मुख अक पै अक, परे परजंक मैं बालम बाल।
उसाँस लै ऊँची कियो छल छैल, सराह्यौ तिया कोई रूप रसाल॥
वधू सिर लोटि लियो भरि नैन, करोटन टेन दियो ततकाल।
वेई कुच कचन सैल भयौ, वही 'देव' नदी भई मोति की माल॥

(४४)

'देव' पुरैनि के पातनि चान सों, हैं जुग चक्र सिचान गहे री।
चीते के चंगुल मै परिकै, करसाइल घाइल ह्वै निबहे री॥
मीजि कै मंजु दली कदली, लरि केहरि कुंजरि लुज रहे री।
हेरी सिकार रहे री कहूँ, वृजराज अहेरी ह्वै आजु अहे री॥

(४५)

आँखिनि में पुतरी ह्वै रहैं, हियरा मैं हरा ह्वै सबै सुख लूटैं।
अगनि संग बसै अँगराग ह्वै, जीव ते जीवनमूरि न फूटैं॥
'देव' जू प्यारे के न्यारे नपै, गुन मो मन मानिक तेऊ परे टूटैं।
और तिया सो तौ तौ बतियाँ करै, मो छतिया ते छिनौ जब छूटैं॥

(४६)

दर्पन देखि इतै दृग दै, रचि मेरे सिंगार बिगारत हैं हरि।
कंचन हूँ रुचि रच रुचै नहिं, मोतिन की सरि मोतिन की सरि॥
'देव' रहै दवि सी छवि छाती की, बोझ भरो मनिमाल बृथा धरि।
भाल मृगमद बिन्दु बनाय कै, इन्दु सो मोहिं गोबिन्द गये करि॥

(४७)

पीक भरी पलकैं झलकै अलकै जु गड़ी, सु लसैं भुज खोज की।
छाइ रही छवि छैल की छाती मैं, छाप बनी कहुँ ओछे उरोज की॥
ताहि चितौति वड़ी अँखियानि ते,तीखी चितौनि चली अति ओज की।
वालम ओर बिलोकि कै बाल, दई हनि खैंचि सनाल सरोज की॥

(४८)

कंचनबेलि सी नौल बधू, जमुना-जल केलि सहेलिनि आनी।
रोमवली अवली कहि 'देव' सु गोरे से गात नहात सुहानी॥
कान्ह अचानक बोलि उठे, उर बाल के व्यालबधू लपटानी।
धाइ के धाइ गही ससवाइ, दुहूँ कर झारत अग अपानी॥

(४९)

सेज सँवारि सुधारि सबै अँग, आँगन के मग मैं पग रोपै।
चन्द की ओरि चितौति गई, निसि नाह की चाह बढ़ी चित चोपै॥
प्रातहि प्रीतम आये कहूँ, बसि 'देव' कही न परै छवि मोपै।
प्यारी के पीक भरे अधरान, उठो मनो कंपत कोप की कोपै॥

(५०)

'देवजू' देखि हँसौ विन हाँसी, त्रसौ ससिवाइ सोहागिनि ह्वै क्यौं।
रूसति औ दुख दूसति हौ, सुखदानि बड़ी बडभागिनि ह्वै क्यौं॥
रोकि रही रुचि चौकि रही, सुचि ज्ञान गहो अनुरागिनि ह्वै क्यौं।
छाह उछाह सी पैठती सी, हिय बैठती बीर बिरागिनि ह्वै क्यौं॥

रसविलास

(१)

जोबन के रंग भरी, ईंगुर से अंगनि पै,
    ऍंड़िन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की;
उचके उचौहैं कुच झपे झलकत झीनी,
    झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की ॥
गुलगुले, गोरे, गोल, कोमल कपोल;
    सुधाबिंदु बोल, इंदुमुखी, नासिका ज्यों कीर की;
'देव' दुति लहराति, छूटे छहरात केस,
    बोरी जैसे केसरि, किसोरी कसमीर की ॥

(२)

'देव' देखावत कंचन सो तनु, औरनि को मनु तावै अगोनी ।
सुंदरि साँचे मैं दै भरि काढी सी, आपने हाथ गढ़ी बिधि-सोनी ॥
सोहति चूनरि स्याम किसोरी की, गोरी, गुमान-भरी, गजगोनी ।
कुंदन-लीक कसौटी में लेखी सी, देखी सोनारि सुनारि सलोनी ॥

(३)

ऍंड़िन ऊपर घूमत घाँघरो, तैसिये सोहत सालू की सारी ।
हाथ हरी हरी राजै छरी, अरू जूती चढ़ी पग फूँद-फुँदारी ॥

आछे उरोज, हरा घुँघुचीन के, हाँकति हाँ कहि बैल निहारी।
गातन ही दिखराय बटोहिन, बातन ही बनिजै बनिजारी॥

(४)

तीनहुँ लोक नचावति ऊक मैं, मंत्र के सूत अभूत गती है।
आपु महा गुनवन्त गुसाइँनि, पाँइन पूजत प्रानपती है॥
पैनी चितौनि चलावति चेटक, की न कियो बस जोगि-जती है।
कामरू-कामिनि काम-कला, जगमोहन भामिन भानमती है॥

(५)

रेसम के गुन छीनि छरा करि, छोर ते ऐंचि सनेह रचावै।
'देव' दसो अँगुरी कर पाँइ, बरै उरझाइ कै रंग मचावै॥
मोहति सी मनु पोहति मोतिन, जोहति सी छबि भौंहैं चलावै।
चंचल नैननि सैननि सों, पटवा की बहू नटवा सी नचावै॥

(६)

अंतर पैठि दुहूँ पट के कवि, 'देव' निरंतर ता उर आनै।
देति मिलाइ घने अपने गुन, तार सुई किधौं देती सुजानै॥
ताहि लिये कर मैं घर मैं, हिय जाको सिये भरमै सु बखानै;
कीन्हीं करेजन की दरजै, दरजी की बहू बरजी नहि मानै॥

(७)

माखनु सो तनु दूध सो जोबनु, है दधि ते अधिको उर ईठी।
जा छवि आगे छपाकर छाँछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन नेह चुवै कहि 'देव', बुझावत बैन बियोग अगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ क्यों न लगे मनमोहनै मीठी॥

(८)

आप पिवै अरु औरनि प्यावति, लाज के तूल ज्यौं तू मति डोलै।
जोबन जेब जकी सी कलारि, छकी मद सौं झुकि झूमति डोलै॥
गावति रीझि रिझावति त्यौं, मतवारनि कौ मुख चूमति डोलै।
काम के बान हनी हिय मैं, घर बाहर धाइल घूमति डोलै॥

(९)

पूरन सरद-ससि-मण्डल विसद जोति,
मण्डल वितान मैं अखण्ड गुन गाहिनी।
अमल अमोल मनि रतननि रच्यो महा,
सुन्दर सुमन्दिर अमन्द मुख चाहिनी॥
आठहूँ पहर कर आठौ आठौ सिद्धि लिये,
सेवक में सेवक सहाय सदा दाहिनी।
रूप रस पवी महादेवी देव देवन की,
सिंहासन बैठी सोहैं सोहैं सिंहवाहिनी॥

(१०)

पावरनि ते पावड़े परे हे पुर पौरि लग,
धाम धाम धूपन के धूम धुनियत हैं।
कस्तूरी अगर सार चोवा रस घनसार,
दीपक हजार ते अँधार लुनियत हैं॥
मधुर मृदंग राग रंग के तरंगनि मैं,
अङ्ग अङ्ग गोपिन के गुन गुनियत हैं।

'देव' सुख साजै महाराज वृजराज आज,
राधा जू के सदन सिधारे सुनियत हैं ॥

(११)

मंजुल अखण्ड खण्ड सातयें महल महा,
मण्डल चौवारी चण्ड मण्डल के चोटहीं ।
भीतर हू लालन के जालन विसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगै जोतिन के जोटहीं ॥
वरनत बानी चौंर ढारत भवानी कर,
जोरै रमा रानी ठाढ़ी रमन के ओटहीं ।
'देव' दिगपालन की देवी सुखदाइनि तें,
राधा ठकुराइनि के पायन पलोटहीं ॥

(१२)

राधे कही है कि तैं छमियौ, व्रजनाथ कितै अपराध किये मैं ।
कानन तान न भूलत वा खिन, आँखिन रूप अनूप पिये मैं ॥
आपने ओछे हिये मै दुराइ, दयानिधि 'देव' बसाय लिये मैं ;
हौंही असाध बसी न कहूँ, पल आध अगाध तिहारे हिये मै ॥

(१३)

भरे गुन-भार सुकुमार सरसिज-सार,
सोभा रूप सागर अपार गुन आँवड़े ।
नख नग जाल लाल अँगुरी विधुप माल,
नूपर मराल ये अनूपर उनाँवड़े ॥

(१२१)

धरिए न पाँव बलि जावँ राधे चन्दमुखी,
वारौं गति मन्द पै गयन्दपति छाँवड़े।
छितहि छुवत 'देव' सूनी होति झलक,
पलक ह्वजे ठाढ़ी हौं पलक करौं पाँवड़े ॥

(१४)

बारी हौ बयस बडी चतुरी हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीये बनाई।
सुन्दरि हौ सुघरी हौ सलोनी हौ, सील भरी रस रूप सनाई ॥
राज-बहू बलि राजकुमारि, अहो सुकुमारि न मानौ मनाई।
नैसक नेह के नाह बिना, चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई ॥

(१५)

साँधी सुधा बुंदन सौ कुन्दन की बेलि किधौं,
साँचे भरि काढ़ी रूप ओपनि भरति है।
पोखी मग रागनि विमुख नख सिख करि,
चरन अधर विद्रुमनि ज्यौं धरति है ॥
हीरा सङ्ग सनि मोती मानिक दसन सेत,
स्यामता लसनि दृग हीरा को हरति है।
जोबन जवाहिर सौं जगमग होत जात,
जौहरी की जोइ जग जौहर करत है ॥

(१६)

सोने से सोहत गातनि साहै, सुहागिनि की अति सोहैं सुहाई।
'देव' जू जावै लगी अँखियान मैं, देखत ही मुख की अरुनाई ॥

ज्यौं ज्यौं रँगै पटरंग निचोरत, त्यौं निचुरै अँग अङ्ग निकाई।
दै छबि छापैं करै मन छाप सु छीपनि बाल छिपै न छिपाई॥

(१७)

राधे कही है कि तै छमियौ, ब्रजनाथ कितै अपराध किये मैं।
कानन तान न भूलत ना खिन, आँखिन रूप अनूप पिये मैं॥
आपने ओछे हिये मैं दुराइ, दयानिधि देव बसाय लिये मै।
हौं ही असाध बसी न कहूँ, पल आध अगाध तिहारे हिये मैं॥

(१८)

मीठी महामृदु बोल कहै, लधु बोल कहै मुसकाइ सुभाइनि।
'देव' भुलाइ बटोहिनि बाट, डुलावति चोरि लिये चित चाइनि॥
रूप अनूप भरी नख तैं सिख, सूदम सुधार सही की रसाइनि।
हाट के ऊपर हाटक बेलि सी, बेचती है हलवा हलवाइनि॥

(१९)

चन्दमुखी मुरि मन्द हँसै मुख, मोतिनि को गहि खोल्यौ डबा सौ।
'देव' सुधा भरे ऐंठ उठे कुच, भेटि अघात सही मधवा सौ॥
रूप-उभार कुँभार की जाई के, जोवन कौन तचायौ तवा सौ।
काम के चक्र चढ़ायौ न को धट, वाकौ न कीनौ अवास अँवा सौ॥

(२०)

धर धर डोलत सुधर नर मोहिबे कौ,
ऊधरी फिरत सब मुख सुखदैनियाँ।
जावक कै मिस काम-पावक जगावै, 'देव'
हिय को हरत यों करत कर सैनियाँ॥

प्रेमी अनुरागिन को हियरो रिझावै,
अरुझावै सुरझावै निरुझावै नैन पैनियाँ।
बेनी गुहिवे कौ पिकबैनी सौ तनैनी फिरै,
पैनी चितवनि की चपल-नैनी नैनियाँ॥

(२१)

घाट पर ठाढ़ी बाट पारत बटोहिन की,
चेटक सी डीठि मन काको न हरति है।
लटकि पटकि पटु छियौ करि मटकति,
'देव' भुज-मूलनि तें फूल से झरति है॥
जोबन की ऐंठ अठिलागि सी उठौहैं कुच,
ओठनि अमेठि पट ऐठि कै धरति है।
धोबिनि अनोखी यह धोवति कहा धौं करि,
सूधौ-मुख राखत न ऊधम करति है॥

(२२)

है कर बीन लिये परबीन, बजावति गावति मोहनी तानन।
मोहि लिये मृग औ खग मानुपि, गान सुनैं समुहैं करि कानन॥
सोर पर्यो सगरे बन बीचन, कोऊ रह्यो तपसी थिर थान न।
बङ्क बिलोकनि बेधि हियो सु, कियो बध व्याध बधू बिनि बानन॥

(२३)

खेलत ही मैं भयौ कछु 'खेल, खिलावनवारी भई सब सौतैं।
'देव जू' चौंकि चिते चकिवै सु, चबाव करै उठि आपनी गोंतै॥

औरइ साँझ तै सूर उदै लगि, औरई साँझ लौं सूर उदौ तै।
रूप की ओप अनूप धरी, पल वालि सी बाढ़त कालिह परौ तै॥

(२४)

पीछे तिरीछे कटाछनि सौं, इत वै चितवैं री लला ललचौहैं।
चौगुनी चैन चवाइनि कै चित, चाइ चढ़े हैं चवाइ मचौहैं॥
जोवन आयौ न पाप लग्यौ, कवि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसौहैं।
जो मैं लजैये औ जैये जितैं, तितैं पैये कलङ्क चितैयै जो सौहैं॥

(२५)

कुंदन से अंग नव जोवन सुरंग उठे,
उरज उतंग धन्य प्यौ जु परसतु है।
सोहति किनारी वारी तन सुख सारी 'देव',
सीस सीसफूल अधखुल्यौ दरसतु है॥
मोतिश्रा जराव वड़े मोतिनि सौं नीकी नथ,
हलत तरौननि तै रूप सरसतु है।
गोरी गजगौनी लोनी नवल दुल्हैया तेरे,
भाग भरे सुख पै सोहाग वरसत है॥

(२६)

भौन भरे सगरे वृज सौंह, सराहत तेरेइ सील सुभाइन।
छाती सिरात सुनैं सवकी, चहुँ ओर तें ओप चढ़ी चित चाइन॥
ऐ री वलाय ल्यौं मेरी भट्ट सुनि, तेरी हौं चेरी परौं इन पाइन।
सौतिहू की अँखिया सुख पावति, तो मुख देखि सखी सुखदाइन॥

(२७)

फटिकसिलानि सौं सुधार्यौ सुधा-मन्दिर,
उदधि दधि कौ सो उफनाय उमगै अमन्द ।
बाहर तैं भीतर लौं भीति न दिखाई देत,
छीर के से फैन फैली चाँदनी फरसबन्द ॥
तारा सी तरुनि तामै 'देव' जगमग होत,
मोतिन की जोति मिल्यौ मल्लिका कौ मकरन्द ।
आरसी से अम्बर मैं आभा सी उजारी ठाढ़ी,
प्यारी राधिका कौ प्रतिबिम्ब सौ लगत चन्द ॥

(२८)

गोरे मुँह गोल हरैं हँसति कपोल बड़े,
लोचन बिलोल लाल लौनी लीनी लाज पर ;
लोभा लागे लाल लखिबे को 'कवि देव' छबि,
गोभा से उठत रूप सोभा के समाज पर ॥
बादले की सारी वर दामन किनारी जगमगै,
जर-तारी झीनी झालरि के साज पर ।
मोती गुहे कोरन चमकै चहुँओरन सु,
तोरन तरैयनि की तानी द्विजराज पर ॥

(२९)

सारद के बारिद मैं, इन्दु सी लसत 'देव',
सुन्दर बदन चन्द्रिका सी चारु चोर है ।

सौंधौ सुधा बिन्दु मकरन्द सी मुकतमाल,
लिपत मनोज तन मञ्जु री सरीर है ॥
सील भरी सलज सलौनी मन्द मुसकानि,
राजै राजहंस-गति गुननि गहीर है।
घेरी चहुँ ओरन ते मोरन की भीर भारी,
मोरन की भीर भै चकोरन की भीर है ॥

(३०)

सील भरी बोलत सुसील बानी सब ही सौं,
'देव' गुरजननि की लाज सौं लची रही।
कोमल कपोल पर दीसै हरदी सी दुति,
चूँनी सी सकुच मुसुकानि मैं मची रही ॥
लालन की लाली अँखियान मैं दिखाई देत,
अन्तर निरन्तर ही प्रेम सौं पची रही।
कुँवरि किसोरी मुख मोरी करै सखियन सौं,
चोराचोरी चित गति रोरी सी रची रही ॥

(३१)

पंकज से नैन बैन मधुर पियूष जैसे,
अधरनि धराधर सुधा सरबत की।
'देव' कोई वाके जोग भोग वै अखण्ड सुख,
भौंहनि प्रकासी जोति कासी करवत की ॥
सील की सुभाइनि कहूँ न काहू कबहूँ कि,
जबहूँ की तबहूँ करत गरबत की।

इन्दिरा सरूप इन्दुवदनी अनूप रूप,
जोबन उँजारी पिय प्यारी परवत की ॥

(३२)

सखिन के सोच गुरु-सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सौं जु उन नैक हँसि छियो गात ।
सहज सुभाइ मुसकाइ उठि गये इहै,
सिसकि सिसकि निसि खोयो पायो परभात ॥
कौन जानै वीर बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय हाय करै पछताय न कछू सुहात ।
बड़े बड़े नैननि तें आँसू भरि भरि 'देव',
गोरो मुख भोरो भोरो ओरो सो बिलानो जात ॥

(३३)

सूझत न गात बीति आयो अधरात लखि,
सोये सब गुरजन जानि कै बगर कै।
छिपि के छबीली अभिसारि को किवार खोलै,
खुलिगे सुगन्ध चहूँ चन्दन अगर कै ॥
'देव' कहै, कुंजनि तैं भौंर पुंजि गुंजि आये,
पूछि पूछि पीछे परे पाहरू डगर कै।
देवता की दामिनी मसाल है कि जोति जाल,
झारी मचत जगे सिगरे नगर के ॥

(३४)

खरी दुपहरी हरी भरी फरी कुंज मञ्जु,
गुंजन अलिपुंजन की 'देव' हिये हरि जाति।
सीरे नद नीर तरु तीरनि गहीर छाँह,
सोवैं परे पथिक पुकारैं पिक करि जाति॥
ऐसे मैं किसोरी भोरी कोरी कुम्हिलानो मुख,
पंकज सों पाय धरा धीरज सौं धरि जाति।
सोहै धाम स्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम धाम चढ़ि आवत उतरि जाति॥

(३५)

जानि पर्‌यो जोवन जनायो है मनोज जुर,
जगमगी जोति अङ्ग बाढ़ति नितै नितै।
हरै हँसि हरि हरि लियौ हरि जू को हियौ,
हेरति हिरननैनी हितू सौ हितै हितै॥
सीखी दिन चारिक तैं तीखी चितवनि प्यारी,
'देव' कहै भरि दृग देखति जितै जितै।
आछी उनमील नील सुभग सरोजन की,
तरल तनैनी मति तोरति तितै तितै॥

(३६)

सावन मास सखीन मैं सुन्दरि, मन्दिर ते निकसी बनि ज्यौं ससि।
'देव जू' देखि छके छबि छैल, रह्यौ न गयौ हिय हारि हियो कसि॥

डारि सकोच कह्यौ सब ऊपर, ऐसोहि भाँति रहौ बृज मैं बसि।
डीठि बचाइ नवाइ कै सीस, नचाइ कै नैनन चाह गई हँसि॥

(३७)

आई बरसानै तैं बुलाई बृषभानुसुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भान की अथै गई।
चक चकवानि के चुकाये चक चोटनि सौं,
चौंकत चकोर चकाचौंध सौं चकै गई॥
'देव' नन्दनन्दन कै नैननि अनन्द मई,
नन्दजी के मन्दिरन चन्दमई छै गई।
कन्जनि कलिनमई कुञ्जनि अलिन मई,
गोकुल की गलिनि नलिन मई कै गई॥

(३८)

राजपौरिया को रूप राधे कौ बनाय लाई,
गोपी मथुरा तै मधुवन की लतानि मैं।
टेरि कह्यौ कान्ह सौं चलौ जू कंस चाहे तुम्हैं,
काके कहैं लूटत सुनै हौ दधि दान मैं॥
संग के न जाने गये डगर डराने 'देव'
कान्ह सकुचाने से पकरि कीनै पानि मैं।
छुटि गयौ छल सौ छबीली की बिलोकनि मैं,
ढीली परीं भौहैं वा लजीली मुसकानि मैं॥

(३९)

खोरि लौं खेलन आवतिये न तौ, आलिन के मत मैं परती क्यौं।
'देव' गुपालहिं देखति ये न तौ, या बिरहानल मैं बरती क्यौं॥
बापुरी मंजुल आम की बाल, सुभाल सी ह्वै उर मै अरती क्यौं।
कोमल बोलि कै क्वैलिया कूरि, करेजनि की किरचैं करती क्यौं॥

(४०)

मोहन की मूरति सो मो ही मनमोहनी सु,
मोहि महामोह कोह मो हिय मढ़ाइयतु।
भौंर भौंर भीतर सरोज फरकत ऐसी,
अधखुली अँखियान उपमा मढ़ाइयतु॥
आलिन की आन उर आनी तन आनी आन,
करत न कान ही सयान ही पढ़ाइयतु॥
लोनौ मुखमण्डल पै पंडल प्रकास 'देव'
जैसे चन्दमण्डल पै चन्दन चढ़ाइयतु॥

(४१)

चौर्‌यौ बंस बिरद मै बौरी भई बरजत,
मेरे बार बार बीर कोऊ पास बैठो जनि।
सिगरी सयानी तुम बिगरी अकेली हौ हीं,
गोहन मैं छाड़्यौ मोसौं भौंहनि अमैठो जनि॥
कुलटा कलङ्किनी हौं कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की निकाम ऐसो ऐठौ जनि।

'देव' तहाँ बैठियतु जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तौ,
बैठो हौं बिकल, कोउ मोहि मिलि बैठो जिनि ॥

(४२)

आक बाक बकति बिथा मैं बूड़ि बूड़ि जात,
पी की सुधि आयें जी की सुधि खोइ खोइ देति।
कोह भरी कुहुकि बिमोह भरी मोहि मोहि,
छोह भरी छिति पै छली सी रोइ रोइ देति ॥
बड़ी बड़ी बार लगि बड़ी बड़ी आँखिन तें,
बड़े बड़े अँसुआ हिये में मोइ मोइ देति।
बाल बिन बालम बिकल बैठी बार बार,
वपु मैं विषम विष बीज बोइ बोइ देति ॥

(४३)

सूधे ही सिखाइ कै सखीनि समुझाई होति,
'देव' स्याम सुन्दर के सौहैं समुहाती क्यों।
बिचर बिचरि बीचि बैरीन मुकत होते,
बिरहै की बेदना बिकल बिलखाती क्यों ॥
जगमगे जौनि ज्वाल जारन सौं जारती न,
जमजाई जामिनि जुगन सम जाती क्यों।
क्वैलिहाई क्वैलिया की काल ऐसी कूकै सुनि,
कौल की सी कालिका कुवरि कुँभिलाती क्यों ॥

(४४)

वीच मरीचनु के मृग लौं, अब धावै न रे सुन काहू नरिन्द के ।
ओस की आस बुझै नहिं प्यास, विसास डसै जिनि काल फनिन्द के ॥
भूलै न 'देव' निहारि असारनि, प्यास निसारत तार के विन्द के ।
इन्दु सौं आनन तू जु चितै, अरविन्द से पायन पूजि गुविन्द के ॥

प्रेम-चन्द्रिका

(१)

आपुस मैं रस मैं रहसैं, बहसैं बनि राधिका कुंज बिहारी।
स्यामा सराहत स्याम कि पागहि, स्याम सराहत स्यामा कि सारी॥
एकहि दर्पन देखि कहै तिय, नीके लगौ पिय प्यौ कहै प्यारी।
'देव जू' बालम बाल को बादु, बिलोकि भई बलि हौं बलिहारी॥

(२)

धार मैं धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न अबेरी।
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि, फेरे फिरीं औ घिरीं नहिं घेरी॥
'देव' कछू अपनो बसु ना, रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेग ही बूड़ि गई पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी॥

(३)

को हमको तुमसे तपसा, बिन जोग सिखावन आइहै ऊधो।
पै अब एही कहो उनको, पिछली सुध आवत है कबहूँ धो॥
एक भली भई भूप भये, जिन्हैं भूलि गये दधि माखन दूधो।
कूबरी सी अति सूधी बधू, बरु पायो भलो घनस्याम सो सूधो॥

(४)

पहिले सतराइ रिसाइ सखी, जदुराई पै पाँय गहाइए तौ।
फिर भेंट भटू भरि अङ्क निसङ्क, बड़े खन लौं उर लाइए तौ॥

अपनो दुख औरन को उपहासु, सबै कवि 'देव' जताइए तौ।
घनस्यामहिं नेकहु एक घरी को इहाँ लगि जो करि पाइए तौ॥

(५)

रावरो रूप रह्यो भरि वैनन, वैननि के रस सों स्रुति सानो।
गात मै देखत गात तुम्हारेई, वात तुम्हारियै वात वखानो॥
ऊधो हहा हरि सो कहियो, तुम हौ न इहाँ यह हौ नहिं मानो।
या तन से बिछुरे तो कहा, मन ते अनते जु वसौ तब जानो॥

(६)

जीभ कुजाति न नेकु लजाति, गनै कुल-जाति न वात वह्यो करै।
'देव' नयो हिय नेह लगाय, विदेह कि आँचन देह दह्यो करै॥
जीव अजान न जानत जान, जो मैन अयान के ध्यान रह्यो करै।
काहे को मेरो कहावत मेरो, जु पै मन मेरो न मेरो कह्यो करै॥

(७)

को कुल या ब्रज गोकुल दो, कुल दीपसिखा सी ससी सी नहीं भरि।
त्यों न तिन्हैं हरि हेरत री, रँग राती न जो अँगराती गरे परि॥
जो नवला नव इंदुकला, ज्यों लची परै प्रेम रची पिय सों लरि।
भेटत देखि बिसेखि हिये, ब्रज भूभुज 'देव' दुहूँ भुज सो भरि॥

(८)

पीछे तिरीछे चितौनि सोई, इत वै चितवै री लला ललचौहैं।
चौगुनो चाउ चवाइन के, चित चाव चढ़ी है चवाउ मचौहैं॥
जोबनु आयो न पापु लग्यो, कवि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसौहैं।
जी में लजैये जु जैये कहूँ, तित पैये कलंक चितैये जु सोहैं॥

(९)

प्रेम कहानिन सो पहिले, हरि कानन आनि समीप किये तैं।
चित्र चरित्र न मित्र भये, सपने मँह मोहि मिलाय लिये तैं॥
'देव जू' दूरि ते दौरि दुराइ, कै प्रेम सिखाइ दिखाइ दिये तैं।
वारिज से बिकसे मुख पै, निकसे इत ह्वै निकसे न हिये तैं॥

(१०)

बारे बड़े उमड़े सब जैवे को, हौं न तुम्हैं पठवौं बलिहारी।
मेरे तो जीवन 'देव' यही धनु, या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी॥
जानै न रीति अथाइन की, नित गाइन मैं वनभूमि निहारी।
याहि कोऊ पहिचानै कहा, कछु जानै कहा मेरो कुञ्जबिहारी॥

(११)

'देव' न देखति हौं दुति दूसरी, देखे हैं जा दिन ते ब्रज भूप मैं।
पूरि रही री वही धुनि कानन, आन न आनन ओप अनूप मै॥
ये अँखियाँ सखियाँ न हमारियै, जाय मिलीं जल बुन्द ज्यों कूप मैं।
कोटि उपाइ न पाइय फेरि, समाइ गईं रँगराई के रूप मैं॥

(१२)

आँखिन आँखि लगाये रहै, सुनिए धुनि कानन को सुखकारी।
'देव' रही हिय मैं धरु कै, न रुकै, निसरै, बिसरै न बिसारी॥
फूल मैं वासु ज्यों मूल सुवासु की, है फलि फूल रही फुलवारी।
प्यारी उज्यारी हिये भरि पूरि, सु दूरि न जीवन-मूरि हमारी॥

(१३)

लाल बुलाई है, को है वे लाल, न जानती हौ तौ सुखी रहिबो करि।
री सुख काहे को देखे बिना, दिखसाधन ही जियरा न पर्यौ जरि॥
'देव' तौ जानि अजान क्यों होति, इती सुन आँसुन नैन लये भरि।
साँची बुलाई, बुलावन आई, हहा कहु मोहिं कहा कहिहैं हरि॥

(१४)

साँसन ही सों समीर गयो, अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
पौन गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
'देव' जियै मिलिवेई की आस, कै आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

(१५)

जागत जागत खीन भई, अब लागत संग सखीन को भारो।
खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो बिसे बीस बिसारो॥
प्यौ सुधि दौस गँवावति 'देवजू', जामिनि जाम मनौ जुग चारो।
नीरजनैनी निहारिये नैननि, धीरज राखत ध्यान तिहारो॥

(१६)

एकै अभिलाष लाख लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न 'देव' चराचर मैं।
जासों मनु राचै तासों तनु मनु राचै रुचि,
भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं॥
पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं।

प्रेम सों कहत कोई ठाकुर न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहरे तौ पैठो प्रेम घर मैं ॥

(१७)

कैसी कुलबधू कुल कैसो कुल बधू कौन,
तू है यह कौन पूछे काहू कुलटाहि री।
कहा भयो तोहिं कहा काहि तोहिं मोहिं कीधौ,
कीधौ और काहे और कहा न तौ काहि री ॥
जाति ही ते जाति कैसी जाति को है जाति ए री,
तोसों हौं रिसाति मेरी मोसों न रिसाहि री।
लाज गहु, लाज गहु, लाज गहिबे हौं रही,
पंच हँसिहैं री, हौं तो पंचन ते बाहिरी ॥

(१८)

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गये एक संग मैं।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सु न्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चित भंग मैं ॥
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जंबु रस बुंद जमुना जल तरंग मैं।
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं ॥

(१९)

वारिधि बिरह बडी वारिधि की बड़वागि,
बूडे बडे बड़े जहाँ पारे प्रेम पुल ते।
गरुओ दरब 'देव' जोबन गरब गिरि,
पर्यो गुन टूटि टूटि बुध नाउ डुलते॥
मेरे मन तेरी भूलि मरी हौं हिये की सूल,
कीन्ही तिन तूल, तूल अति ही अतुल ते।
भावते भोडी करी, मानिनी ते मोड़ी करी,
कौडी करी हीरा ते, कनौडी करी कुल ते॥

(२०)

रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ मेरे,
रीझ खीझ एकै रँग राग्यो सोई रागि चुक्यो।
जस अपजस कुबड़ाई औ बडाई गुन,
औगुन न जान्यो, जीव जाग्यो सोई जागि चुक्यो॥
कौन काज गुरु जन बरजै जु दुरजन,
कैसी कुल नेम प्रेम पाग्यो सोई पागि चुक्यो।
लोगन लगायो सु तौ लाग्यो अनलाग्यो 'देव',
पूरो पन लाग्यो मन लाग्यो सोई लागि चुक्यो॥

(२१)

बिन जान्यौ वेद ते तौ बाद कै बिदित होहि,
जिन जान्यो लोक तेऊ लीक पै लरि मरो।

जिन जान्यौ तपु तीनो तापन सों तपि जिन,
पंचागिनी साध्यौ ते समाधिन परि मरो ॥
जिन जान्यौ जोग तेऊ जोगी जुग जुग जियो,
जिन जान्यौ जोति तेऊ जोति लै जरि मरो ।
हौ तौ 'देव' नंद के कुमार तेरी चेरी भई,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरो ॥

(२२)

कुबिजा कितेब दुबि जा के रहे आपु 'देव',
अंस अवतारी अब तारी जिन गनिका ।
आरति न राखत निवारत नरक ही ते,
तारत तिलोक चरनोदक की कनिका ॥
उनके गुनानुवाद तुमसों सुने हैं ऊधो,
गोपिन को सूधो मत प्रेम की जवनिका ।
कुंजन मैं टेरिहैं जु स्याम को सुमिरि नीके,
हाथ लै न फेरिहैं सुमिरिनी के मनका ॥

(२३)

कंपत हियो, न हियो कँपत हमारो क्यों,
हँसी तुम्हैं अनोखी नेकु सीत मैं ससन देहु ।
अबर हरैया हरि, अंबर उजेरो होत,
हेरि के हँसै न कोई, हँसै तो हँसन देहु ॥
'देव' दुति देखिबे को लोयन मै लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी, लोयन लसन देहु ।

हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु, ब्रज मे बसन देहु ॥

(२४)

बारै कोटि इंदु अरविंदु रसबिंदु पर,
मानै ना मलिन्द बिन्दु सम कै सुधासरो।
मलै मल्लि मालती कदम्ब कचनार चम्पा,
चँपेहू न चाहै चित चर न टिकासरो॥
पदुमिनि तू ही षटपदु को परम पदु,
'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो।
रस, रिस, रास, रोस, आसरो सरन, बिसे,
बीसो बिसवास रोकि राख्यो निसि बासरो॥

(२५)

प्रेम चरचा है अरचा है कुल नेम, न,
रचा है चित और अरचा है चित्तचारी को।
छोड़्यो परलोक नरलोक बर लोक कहा,
हरख न सोक न अलोक नर नारी को॥
घाम, सीत, मेह न विचारै सुख देह हू को,
प्रीतम सनेह डरु बन न अँध्यारी को।
भूलेहू न भोग, बडी बिपति, बियोग बिथा,
जोगहू ते कठिन सजोग परनारी को॥

(२६)

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रकनि कलंकिनि, कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, बर लोकन मैं,
लीन्हों मै अलोक लोक लीकन ते न्यारी हौं॥
तन जाहि, मन जाहि, 'देव' गुरु जन जाहि,
जीव क्यों न जाहि, टेक टरति न टारी हौं।
वृन्दाबनवारी बनवारी के मुकुट पर,
पीतपटवारी वहि मूरति पै वारी हौं॥

(२७)

मन्द महामोहक मधुर सुर सुनियत,
धुनियत सीस बँधी बाँसी है री बाँसी है।
गोकुल की कुलबधू को कुल सम्हारैं नहीं,
दो कुल निहारैं लाज नासी है री नासी है॥
काहि धौं सिखावत, सिखै को काहि सुध होय,
सुधि बुधि कारे कान्ह डासी है री डासी है।
'देव' ब्रजवासी या बिसासी की चितौनि, वहि,
गाँसी है री हाँसी, वह फाँसी है री फाँसी है॥

(२८)

'देव' प्रीति पंथा चीरि, चीर गरे कथा डारि,
भसम रमाय खान पान हू न छूजिए।

दूरि दुख द्वंद राखि, मुंदरा पहिरि कान,
ध्यान सुदरानन गुरु के पग पूजिए ॥
शृंगी की टकी लगाय, भृंगी कीट कै मनु,
बिरागिन ह्वै बपु बिरहागिनि मै भूजिए ।
केली तजि राधिका अकेली, होय जोगिन तौ,
अलख जगाय हेली चेली चलि हूजिए ॥

(२९)

नेवर के बजत कलेवर कँपत 'देव',
देवर जगै न लगे सोवत तनक ते ।
ननद न छीछी त्योरी तोरति तिरीछी लखि,
बीछी कैसो बिपु बगरावेगी भनक ते ॥
देखिए कठिन साथ गहौ जू हठि न हाथ,
कैसे कहौं जाहु नाथ आये हौ बनक ते ।
बस ना हमारो रग रस न बनत, चौंकि,
रसना दसन दावै रसना भनक ते ॥

(३०)

अजन सों रञ्जित निरञ्जनहिं जानै कहा,
फीको लगै फूल रस चाखे हौ जु बौड़ी को ।
तूरज बजाय सूर सूरज को बेधि जाय,
ताहि कहा सबद सुनावत हौ डौड़ी को ॥
ऊधो पूरे पारखी हौ परखे बनाय 'देव',
बार ही पै बोरौ पैरवैया धार औड़ी को ।

मनु मनिका दै हरि हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ॥

(३१)

मोहिं तुम्हैं अन्तरु गनैं न गुरु जन तुम,
मेरे, हौं तुम्हारी, पै तऊ न पिघलत हौ।
पूरि रहे या तन मैं, मन मैं न आवत हौं,
पञ्च पूछि देखे, कहूँ काहू ना हिलत हौ ॥
ऊँचे चढ़ि रोई, कोई देत न दिखाई 'देव',
गातन की ओट बैठे बातन गिलत हौ।
ऐसे निरमोही सदा मो ही मैं बसत अरु,
मो ही ते निकरि फेरि मोंही न मिलत हौ ॥

(३२)

फलि फलि, फूलि फूलि, फैलि फैलि, झुकि झुकि,
झपकि झपकि, आई कुजै चहुँ कोद ते।
हिलि मिलि हेलिन को केलिन करनि गईं,
वेलिन बिलोकि बधू ब्रज की विनोद ते ॥
नंदजू की पौरि पर ठाढे हैं रसिक 'देव',
मोहन जू मोहिं लीनी मोहिनी वे मोद ते।
गाथन सुनत भूलीं साथन की, फूल गिरे,
हाथन के हाथन ते, गोदन के गोद ते ॥

दूरि दुख दुंद राखि, मुंदरा पहिरि कान,
ध्यान सुदरानन गुरु के पग पूजिए ॥
शृंगी की टकी लगाय, भृंगी कीट कै मनु,
बिरागिन ह्वै वपु विरहागिनि मैं भूजिए।
केली तजि राधिका अकेली, होय जोगिन तौ,
अलख जगाय हेली चेली चलि हूजिए ॥

(२९)

नेवर के वजत कलेवर कँपत 'देव',
देवर जगै न लगे सोवत तनक ते।
ननद न छोछी त्योरी तोरति तिरीछी लखि,
बीछी कैसो विपु वगरावेगी भनक ते ॥
देखिए कठिन साथ गहौ जू हठि न हाथ,
कैसे कहौ जाहु नाथ आये हौ वनक ते।
वस ना हमारो रग रस न वनत, चौंकि,
रसना दसन दावै रसना झनक ते ॥

(३०)

अजन सों रञ्जित निरञ्जनहिं जानै कहा,
फीको लगै फूल रस चाखे हौ जु बौड़ी को।
तूरज वजाय सूर सूरज को वेधि जाय,
ताहि कहा सवद सुनावत हौ डौड़ी को ॥
ऊधो पूरे पारखी हौ परखे वनाय 'देव',
वार ही पै बोरौ पैरवैया धार औडी को।

मनु मनिका दै हरि हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ॥

(३१)

मोहिं तुम्हैं अन्तरु गनैं न गुरु जन तुम,
मेरे, हौं तुम्हारी, पै तऊ न पिघलत हौ।
पूरि रहे या तन मैं, मन मैं न आवत हौं,
पञ्च पूछि देखे, कहूँ काहू ना हिलत हौ ॥
ऊँचे चढ़ि रोई, कोई देत न दिखाई 'देव',
गातन की ओट बैठे बातन गिलत हौ।
ऐसे निरमोही सदा मो ही मै बसत अरु,
मो ही ते निकरि फेरि मोंही न मिलत हौ ॥

(३२)

फलि फलि, फूलि फूलि, फैलि फैलि, झुकि झुकि,
झपकि झपकि, आई कुंजै चहुँ कोद ते।
हिलि मिलि हेलिन को केलिन करनि गईं,
बेलिन बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते ॥
नंदजू की पौरि पर ठाढे हैं रसिक 'देव',
मोहन जू मोहिं लीनी मोहिनी वे मोद ते।
गाथन सुनत भूलीं साथन की, फूल गिरे,
हाथन के हाथन ते, गोदन के गोद ते ॥

(३३)

अंब कुल, बकुल कदंब मल्ली मालती,
मलै जन को मींजि कै गुलाबन की गली है।
को गनै अलपतरु, जी सों कलपतरु,
ता सों विकलप क्यों अलपमति अली है॥
चित जाके जाय चढि चम्पक चपायो कोन,
मोचि मुख सोचिहै सकुचि चुप चली है।
कचन विचारे रुचि पंचन मैं पाई 'देव',
चम्पा वरनी के गरे परयो चम्पकली है॥

(३४)

जौन जी मै प्रेम, तव कीजै व्रत नेम जव,
कंज मुख भूलै, तव संजम विसेखिए।
आस नहीं पी की, तव आस नहीं बाँधियत,
साँसन कै साँसन को मूँदि पति पेखिए॥
नख ते सिखा लौं सव स्याममई बाम भई,
बाहिरहू भीतर न दूजो देव देखिए।
जोग करि मिलै जो वियोग होय वालम जु,
ह्याँ न हरि होय तव ध्यान धर देखिए॥

(३५)

मोहि मे छिपे हौ मोहि छ्वावत न छाँहौ, तापै,
छाँड़ भये डोलत, इतै पै मोहि छरिहौ।

मच्छ सुनि कच्छप, बराह-नरसिंह सुनि,
बामन परसुराम रावन के अरि हौ ॥
'देव' बलिदेव देव दानव न पावैं भेव,
को हौ जु कहौ जु जो हिये की पीर हरिहौ ॥
कहत पुकारे प्रभु करुनानिधान कान्ह,
कानि मूँद बौध ह्वै कलंकी काहि करिहौ ॥

(३६)

जोगहि सिखैहैं ऊधो जो गहिकै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ वै चुकीं ।
'देव' पंचसायक नचाय खोलि पंचन मैं,
पंचहू करनि पचामृत सो अचै चुकीं ॥
कुलबधू ह्वैकै हाय कुलटा कहाई अरु,
गोकुल मैं कुल मै कलंक सिर लै चुकीं ।
चित होत हित न हमारे नित और सो तौ,
वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकीं ॥

(३७)

दार द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झिंगोला सोहै तन छवि भारी दै ।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं 'देव',
कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै ॥

(३३)

अंब कुल, बकुल कदंब मल्ली मालती,
मलै जन को मींजि कै गुलाबन की गली है।
को गनै अलपतरु, जी सों कलपतरु,
ता सों विकलप क्यों अलपमति अली है॥
चित जाके जाय चढि चम्पक चपायो कौन,
मोचि मुख सोचिहै सकुचि चुप चली है।
कंचन विचारे रुचि पंचन मैं पाई 'देव',
चम्पा वरनी के गरे पर्‌यो चम्पकली है॥

(३४)

जौन जी मैं प्रेम, तब कीजै व्रत नेम जब,
कंज मुख भूलै, तब संजम बिसेखिए।
आस नहीं पी की, तब आस नहीं बाँधियत,
साँसन कै साँसन को मूँदि पति पेखिए॥
नख ते सिखा लौं सब स्याममई बाम भई,
बाहिरहू भीतर न दूजो देव देखिए।
जोग करि मिलै जो वियोग होय बालम जु,
ह्याँ न हरि होय तब ध्यान धर देखिए॥

(३५)

मोहि मे छिपे हौ मोहि छुवावत न छाँहौ, तापै,
छाँड़ भये डोलत, इतै पै मोहि छरिहौ।

मच्छ सुनि कच्छप, बराह नरसिंह सुनि,
बामन परसुराम रावन के अरि हौ ॥
'देव' बलिदेव देव दानव न पावैं भेव,
को हौ जु कहौ जु जो हिये की पीर हरिहौ ॥
कहत पुकारे प्रभु करुनानिधान कान्ह,
कानि मूँद बौध ह्वै कलंकी काहि करिहौ ॥

(३६)

जोगहि सिखैहैं ऊधो जो गहिकै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ वै चुकीं ।
'देव' पंचसायक नचाय खोलि पंचन मैं,
पंचहू करनि पचामृत सो अचै चुकीं ॥
कुलबधू ह्वैकै हाय कुलटा कहाई अरु,
गोकुल मैं कुल मैं कलंक सिर लै चुकीं ।
चित होत हित न हमारे नित और सो तौ,
वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकीं ॥

(३७)

दार द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झिंगोला सोहै तन छवि भारी दै ।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं 'देव',
कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै ॥

पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन,
कुंद कली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

सुजान-विनोद

(१)

भारी भर्‌यो बिबि भौंहनि रूप, सुडोर दुहूँ लचि छोरनि डोलै।
नीको चुनी को लिलार मैं टीको, सुटेकि खिलार खरे गुन खोलै॥
बालपनो तरुनापनो बाल को, 'देव' बराबरि केवल बोलै।
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन, सुनैन पलानि तुला धरि तौलै॥

(२)

'देव' मैं सीस बसायौं सनेह सों, भाल मृगम्मद बिंदु कै भास्यो।
कंचुकी मैं चुपर्‌यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलास्यो॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिँगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप, मै नैननि को कजरा करि राख्यो॥

(३)

अरिकै वह आजु अकेली गई. खरिकै हरि के गुन रूप लुही।
उनहू अपनो पहिराइ हरा, मुसक्याय कै गाय कै गाय दुही॥
'कवि देव' कहौ किन कोऊ कछू, तब ते उनके अनुराग छुही।
सब ही सों यही कहैं बालबधू, यह देख री माल गोपाल गुही॥

(४)

ना यह नंद को मंदिर है, वृषभान को भौन कहा जकती हौ।
हौं ही यहाँ तुम ही कहि 'देव जू', काहि धौं घूँघट कै तकती हौ॥

भेटती मोहि भटू केहि कारन, कौन किधौं छवि सों छकती हौ।
कैसी भई सो कहौ किन कैसे हू, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ ॥

(५)

केसरि किंसुक औ बरना, कचनारनि की रचना उर सूली।
सेवती 'देव' गुलाब मलै मिलि, मालती मल्ली मलिंदनि हूली ॥
चंपक दाड़िम नूत महाउर, पाँडर डार डरावनि फूली।
या मयमंत बसंत मैं चाहत, कंत चल्यो हमही किधौं भूली ॥

(६)

काम कलोलनि केलि करी निसि, प्रात उठी थिर ह्वै थहराय कै।
आपने चीर के धोखे बधू, पहिरो पट पीतम को फहराय कै ॥
बाँधि लई कटि सों बनमाल, न किंकिन बाल लई ठहराय कै।
भावती की रस रंग कि दीपति, संग की हेरि हँसी हहराय कै ॥

(७)

होरी को सोरु पर्‌यो ब्रज पौरि, किसोरी को चित्त बिछोहनि छीज्यो।
दौरि फिरै दुरि देखिबे को, न दुरै मनु ओज मनोज की मीज्यो ॥
केसरिया चकचौंधत चीर, ज्यों केसरि बीर सरूप लसी ज्यों।
लाल के रंग मे भीजि रही, सु गुलाल के रंग मैं चाहत भीज्यो ॥

(८)

साँवरो सुंदर रूप बिसाल, अनूप रसाल बड़े बड़े नैन री।
या बन आवत गैयनि लै नित, 'देव' दिखैयनि के चित चैन री ॥
मैं हूँ सुनी सो कहा कहौं लाज की, बात कहूँ सखि तू कहिए न री।
वा जग वंचक देखे बिना, दुखिया अँखियान न रंचक चैन री ॥

(९)

प्रान सों प्रानपती सो निरन्तर, अन्तर अन्तर पारत हेरी।
'देव' कहा कहौं बाहर हूँ, घर बाहर हूँ रहैं भौंह तरेरी॥
लाज न लागति लाज अहे, तोहिं जानी मैं आजु अकाजिन ए री।
देखन दे हरि को भरि नैन, घरी किन एक सरी कनि मेरी॥

(१०)

मंजुल मंजरी पंजरी सी ह्वै, मनोज के ओज सम्हारति चीरन।
भूख न प्यास न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर जीरन॥
'देव' घरी पल जाति घुरी, अँसुवानि के नीर उसास समीरन।
आह न जाति अहीर अहै तुम्हैं, कान्ह कहा कहौं काहू के पीरन॥

(११)

'देव' जौ बाहिर ही विहरै, तौ समीर अमी रस बिंदु लै जैहै।
भीतर भौन बसै वसुधा ह्वै, सुधा मुख सूँघि फनिंदु लै जैहै॥
राखिहौ जौ अरबिंदहु मैं, मकरंद मिलै तौ मलिंद लै जैहै।
जैए कहूँ, यहि राखि गोविन्दु, कै इन्दुमुखी लखि इंदु लै जैहै॥

(१२)

माधुरे झौरनि फूलनि भौरनि, बौरनि बौरनि बेलि बची है।
केसरि किंसु कुसुंभ कुरौ, किरवार कनैरनि रंग रची है॥
फूले अनारनि चंपक डारनि, लै कचनारनि नेह तची है।
कोकिल रागनि नूत परागनि, देखु री बागनि फाग मची है॥

(१३)

ह्वै भई दूलह, वे दुलही, उलही सुख बेलि सी केलि घनेरी।
हौं पहिरे पिय को पियरी, पहिरी उन री चुनरी चुनि मेरी॥
'देव' कहा कहौं कौन सुनै, औ कहा कहे होत कथा बहुतेरी।
जेहरि मेरी धरैं नित जे हरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री॥

(१४)

बारियै बैस बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई।
सुंदरै हौ सुघरै हौ सलोनी हौ, सील भरी रस रूप सनाई॥
राजबधू बलि राजकुमारि, अहो सुकुमारि न मानौ मनाई।
नैसिक नाह के नेह बिना, चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई॥

(१५)

होरी मैं आजु भिजै रँग रोरी के, आपनो ज्यों अपने बस कै लै।
यों कहि 'दव' सखी गहि गोरी को, ल्याई हैं गोकुल गाँव की गैलै॥
लाज की गारी सुनी कबहूँ नहिं, गावत लोग लगावत छैलै।
खेलति फागु नई दुलही, दृग आँसुनि लीलि उसासनि लै लै॥

(१६)

भारे हो भूरि भुराई भरे, अरु भाँतिन भाँतिन कै मन भाये।
भाग बड़ो वहि भावती को, जेहि भावते लै रंग-भौन बसाये॥
भेष भलोई भली बिधि सों, करि भूलि परे किधौं काहू भुलाये।
लाल भले हौ भलो सुख दीनो, भली भई आजु भले बनि आये॥

(१७)

लोग लुगाइनि होरी लगाय, मिलामिली चारु न मेटत ही बन्यो।
'देव' जू चंदन चूर कपूर, लिलारन लै लै लपेटत ही बन्यो॥
ये यहि औसर आये इहाँ, समुहाय हियो न समेटत ही बन्यो।
कीनी अनाकनियो मुख मोरि, पै जोरि भुजा भटू भेटत ही बन्यो॥

(१८)

भूजि रही बिरहाजुर सों, समौ पावन जानि जनीनु जगाई।
घोरि घनो रँग केसरि को गहि, बोरि गुलाल मैं बाल रँगाई॥
साँस लई गहिरी कहि री, हमसों उनसों अब कौन सगाई।
ऐसे भये निरमोही महा, हरि हाय हमै बिन होरी लगाई॥

(१९)

बैरागिन की धौं अनुरागिन सोहागिन तू,
'देव' बड़भागिन लजाति औ लरति क्यों?
सोवति जगति अरसाति, हरखाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यों॥
चौंकति चकति उचकति औ बकति,
बिथकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों।
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति साह,
चरज सराहि आह चरज मरति क्यों॥

(२०)

देखे अनदेखे दुखदानि भये सुखदानि,
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो।

पानी पान भोजन, सुजन, गुरजन भूले,
'देव' दुरजन लोग लरत खरे परो ॥
लागो कौन पाप, पल एको न परति कल,
दूरि गयो गेह, नयो नेह नियरे परो।
होतो जो अजान, तौ न जानतो इतीकु बिथा,
मेरे जिय जान तेरे जानिबो गरे परो ॥

(२१)

जगमगो जोवन जराऊ ताखनकान
ओठन अनूठे रस-हाँसी उमड़े परत।
कंचुकी मय कसे आवै उकसे उरोज
बिन्दु बदन लिलार बड़े वार घुमड़े परत ॥
बडे बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ,
बड़ी बरुनीन होड़ाहोड़ी हुमड़े परत।
गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार,
'देव' मन झुमका झुमक झुमड़े परत ॥

(२२)

सूझत न गात बीत आई अधरात अरु,
सोये सब गुरुजन जानि कै बगर के।
छिपि कै छबीली अविसार को केवार खोलै,
खुल गे खजाने चारु चन्दन अगर के ॥
'देव' कहै भौंर गुंज आये कुंज कुंजन ते,
पूछि पूछि पीछे परे पाहरू डगर के।

देवता की दामिनी मसाल किधौं जोति जागि,
भगरे मचत जागे सगरे नगर के ॥

(२३)

आवन सुन्यो मनभावन को भावती ने,
आँखिन अनंद आँसू ढरकि ढरकि उठै।
'देव' दृग दोऊ दौरि जात द्वार देहरी लौं,
केहरी सी खाँसै खरी खरकि खरकि उठै ॥
टहलैं करति टहलै न हाथ पाँय रंग,
महलैं निहारी सती तरकि तरकि उठै।
सरकि सरकि सारी दरकि दरकि आँगी,
औचक उचौहैं कुच फरकि फरकि उठै ॥

(२४)

बालम बिरह जिन जान्यो न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यों ज्यों बरसै बरफ राति।
बीजन डुलावत सखी जन सो सीतहु मैं,
सौतिन सराफ तन तापनि तरफराति ॥
'देव' कहैं साँसनि सों अँसुआ सुखात मुख,
निकसै न बात ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परत करौंट खटपाटी लै लै,
सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति ॥

(२५)

कंचन किनारीवारी सारी तास की मैं
आसपास भूमी मोतिन की झालरि एकहरी ।
सीसफूल वेना बेंदी बेसरि और बीरनि की,
हीरनि की भीर मैं हँसति छबि छहरी ॥
चन्द से बदनि भानु भई वृषभानुजाई,
नयन लुनाई की उवनि की सी लहरी ।
काम धाम धोज्यौं पघिलतु घनस्याम मन,
क्यों सहैं समीप 'देव' दीपति दुपहरी ॥

(२६)

पीछे परवीनैं बीनैं संग की सहेली आगे,
भार डर भूषन अगर डारै छोरि छोरि ।
चौंकति चकोरनि त्यों मोरै मुख मोरनि त्यों,
भौंरनि की ओर भीरु हेरै मुख मोरि मोरि ॥
एक कर आली कर ऊपर ही धरे हरे,
हरे पग धरै 'देव' चलै चित चोरि चोरि ।
दूजे हाथ साथ लै सुनावति वचन राज,
हंसन चुनावति मुकुति माल तोरि तोरि ॥

(२७)

सीतल महल महा सीतल पटीर पंक,
सीतल के लोप्यो भीति छिति छाती दहरै ।

सीतल सलिल भरे सीतल बिमल कुंड,
सीतल विमल जलजंत्र धारा छहरै ॥
सीतल बिछौननि पै सीतल बिछाई सेज,
सीतल दुकूल पैन्हि पौढ़े हैं दुपहरै।
'देव' दोऊ सीतल अलिंगननि देत लेत,
सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरै ॥

(२८)

दुलही दुलह नौल चाह अनुकूल फूले,
उलहे फिरत गोपी गोपनि की भीर मैं।
तैसिये बसंत पाँचै चाय सों चरचि नाचै,
रंग राँचै कीच माचै केसरि की नीर मैं ॥
करत न कानि जानि भरत भुजानि 'देव',
धरत न धीर उर अधिक अधीर मैं।
संबरारि डंबर मैं बूड़ि रहे दोऊ सुख,
सोभा के अडंबर मैं अंबर अबीर मै ॥

(२९)

तेरो कह्यो करि करि जीव रह्यो जरि जरि,
हारी पाँय परि परि तऊ तैं न को सँभार।
ललन विलोके 'देव' पल न लगाये तव,
यों कल न दीनी तै छलन उछलनहार ॥
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई,
आपु बिधि बूड़्यो माँझ बाधा सिंधु निराधार।

ए रे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हे अब,
ए केवार दैके तोहि मूँदि मारौं एक बार ॥

(३०)

ना खिन टरत टारे आँखि न लगत पल,
आँखि न लगे री स्याम सुंदर सलौन से ।
देखि देखि गातन अघात न अनूप रस,
भरि भरि रूप लेत लोचन अचौन से ॥
ए री कहु को हो, हौं सु को हौं कहा कहति हौं,
कैसे बन कुंज देव देखियत भौन से ।
राधे हौ सदन बैठी कहति हो कान्ह कान्ह,
हा हा कहि कान्ह वे कहाँ हैं को हैं कौन से ॥

(३१)

हित की हितू री नहिं तू री समुझावै आनि,
सुख दुख मुख सुखदानि को निहारनो ।
लपने कहाँ लौं बालपने की विकल बातै,
अपने जनहि सपनेहू न बिसारनो ॥
'देवजू, दरस बिनु तरसि मरयो हो पग,
परसि जियैगो मन बैरी अनमारनो ।
पतिव्रत व्रती यै उपासी प्यासी आँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो ॥

(३२)

केलि के बगीचे लौं अकेली अकुलाइ आई,
नागरि नवेली बेली हेरत हहरि परी।
कुंज पुंज तीर तहँ गुंजत भँवर भरि,
सुखद समीर सारे नीर की नहरि परी॥
'देव' तेहि काल गूँथि ल्याई माल मालिन सो,
देखत बिरह बिष व्याल की लहरि परी।
छोह भरी छरी सी छबीली छिति माँहि फूल,
छरी के छुवत फूल छरी सी छहरि परी॥

(३३)

पामरिन पाँवडे परे हैं पुर पौरि लाग,
धाम धाम धूपनि के धूम धुनियतु है।
कस्तूरी अतरसार, चोवारस, घनसार
दीपक हजारनि अँध्यार लुनियतु है॥
मधुर मृदंग राग रंग के तरंगनि मैं,
अंग अंग गोपिन के गुन गनियतु है।
'देव' सुखसाज, महाराज ब्रजराज आजु
राधाजू के सदन सिधारे सुनियतु है॥

(३४)

धाई खोरि खोरि ते बधाई पिय आवनि की,
सुनि सुनि कोरि कोरि भावन भरति है।

मोरि मोरि बदन निहारत बिहार भूमि,
घोरि घोरि आनँद घरी सी उघरति है ॥
'देव' कर जोरि जोरि बदत सुरन गुरु-
लोगन के लोरि लोरि पाँयन परति है।
तोरि तोरि माल पूरै मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि छोरि भूषन धरति है ॥

(३५)

छीर की सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
जामिनी की जोति भामिनी को गनु ऐंठ्यो है।
ठौर ठौर छूटत फुहारे मनो मोतिन क,
'देव' बनु याको मनु काको न अमैंठ्यो है ॥
सुधा के सरोवर सो अंबर उदित ससि,
मुदित मराल मनु पैरिबै को पैठ्यो है।
बेलि के विमल फूल फूलत समूल मनौं,
गगन ते उड़ि उड़गन गन बैठ्यो है ॥

(३६)

कंत बिन बासर बसंत लागे अंतक से,
तीर ऐसे त्रिबिध समीर लागे लहकन।
सान धरे सार से चंदन घनसार लागे,
खेद लागे खरे मृग मेद लागे महकन ॥
फाँसी से फुलेल लागे, गाँसी से गुलाब अरु,
गाज अरगजा लागे, चोवा लागे चहकन।

अंग अंग आगि ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन अबीर लागे दहकन ॥

(३७)

भीतर ही लालनि के जालनि बिसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोटहीं।
चरनति बानी चौंर ढारति भवानी कर,
जोरे रमा रानी ठाढ़ी रमन के ओटहीं ॥
उज्जल अखंड खंड सातयें महल महा,
मंदिर चवारो चदमंडल की चोटहीं।
'देव' दिगपालनि की दवी सुखदाइनि ते,
राधा ठकुराइन के पाँइन पलोटहीं ॥

(३८)

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जल बूँदन की,
बिना बेंदी बदन बदन सोभा विकसी।
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुर गुंज,
गुंजरत मंजुरव बोलै बाल पिक सी।
नीबी उकसाइ नेकु नयन नचाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर से निकसी ॥

(३९)

भेटि भुज भुजन समेटि उर सों जु उर,
अधर अधर धरे अधिक अधीर की।
जोरि अंग अंग सों लचाइ गुलचाइ भाल,
दीनी लाल बेंदी बोरि खैंचि कै अबीर की॥
'देव' दुख भंजन लला के दृग खंजन मैं,
अंजन की लीक पीक पलक लकीर की।
तन मन वारी बनवारी की बनक पर,
चंद बलिहारी बलिहारी बलवीर की॥

सुखसागर-तरंग

(१)

'देव' सबै सुखदायक संपति, संपति को सुख दंपति जोरी।
दंपति दीपति प्रेम प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति तहाँ गुण गीति विचार, विचार की बानी सुधा रस बोरी।
बानी को सार बखान्यो शृँगार, शृँगार को सार किशोर किशोरी॥

(२)

हौंही ब्रजवृंदावन मोही में बसत सदा,
यमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की।
'देव' दई सुंदर सघन वन देखियत,
कुंजन में सुनियत गुंजनि अलीन की॥
बंसीबट तट नट नागर नचत मोमें,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल तानन की,
तनक तनक तामें झनक चुरीन की॥

(३)

काहू की कानि करै रीन ये, उन ऐसे खिलार अनोखे नये हरि।
'देव' अहीरनि पीर न सोच, बिलोचन वीर अबीर लिये भरि॥

रूस सकी न भरै सिसकी, सु उभा सनि ही अँसुवाँ सुख पेटरि ।
लालरि लैकै गुलाल रँगीलै, रँगीली की चूनरि गीली गई करि ॥

(४)

एकन बैनन ही ललचाय, लचाये हैं एकन सैनन कै कै ।
है गुलचाय लचाये लला, सु बचाये है ओठनि कै रस लैकै ॥
एकहि भेंटि दुहूँ भुज 'देव', हियो दृग अंजन रंग उन्है कै ।
चंचलनैनी दृगांचल मोरि, हँसै मुख रंचक अंचल दैकै ॥

(५)

खेलत फाग खिलार खरे, अनुराग भरे बड़भाग कन्हाई ।
एक ही भौन में दोउन देखिकै, 'देव' करी इक चातुरताई ॥
लाल गुलाल सो लीनी मुठी भरि, बाल के भाल की ओर चलाई ।
वा दृग मूँदि उतै चितयो, इन भेटि इतै वृषभान की जाई ॥

(६)

न्याननि काम है। बाम बिरानी ये, जात हिरानी ये सामुहे हेरेई ।
वीरन की सौं अहीरन पीर न, वीरन के घर आवति घेरेई ॥
औसर होरी के भौज को भेट न, भौजी को भेटन आये अबेरेई ।
देवर है। जू लड़ाइते देवर, नेवर मेरे सुनेवर मेरेई ॥

(७)

चाँदनी से आँगन बिछौना बिछो चाँदनी से,
फैलि रही चाँदनी सुहाय 'देव' भूमि भूमि ।
तो ही बिनु फीकी ये लगत चलु चन्द्रमुखी,
तेरे है। चरण चरचत मुख चूमि चूमि ॥

आली देखु आनि कै सुराख्यो चँदोवा तानि,
ताभे सुखदानि तो विरह गिरे घूमि घूमि।
झीनी झीनी झाईं सी जुन्हाई झकी झलकति,
झिलिमिली झालरै रही है झुकि झूमि झूमि॥

(८)

छीर की सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
यामिनि की ज्योति भामिनी को मनु ऐंठो है।
ठौर ठौर छूटत फुहारो मानो मोतिन को,
'देव' वन याको मन काको न अमेठो है॥
सुधा को सरोवर सो अम्बर उदित शशि,
मुदित मराल मनौ पैरिबे को पैठो है।
बेला के विमल फूल फूलत समूल मानौ,
गगन ते उड़ि उडुगण गण बैठो है॥

(९)

ज्योतिन के जूहनि दुरासद दुरूहनि,
प्रकाश के समूहनि उज्यासनि के आकरनि।
फटिक अटूटनि महारजत कूटनि,
मुकुट मणि जूटनि समेटि रतनाकरनि॥
छूटि रही जोन्ह जग लूटि द्युति 'देव',
कमलाकरनि झूटि फूटि दीपति दिवाकरनि।
नभ सुधा सिन्धु गोद पूरण प्रमोद शशी,
समुद विनोद चहूँ कोद कुमुदाकरनि॥

(१०)

खरी दुपहरी हरि भरी फरी कुंज मंजु,
गुंज अलि पुंजन की 'देव' हियौ हरि जाति।
सीरे नद नीर तरु तीरन गहरि छाँह,
सोवै परे पथिक पुकारै पिक करि जाति॥
ऐसे मे किसोरी भोरी कोरी कुँभिलाने मुख,
पंकज जो पाइ धरा धीरज सो धरि जाति।
सोहै घनश्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम वाम चढ़ि आवत उतरि जाति॥

(११)

सोखे सिन्धु सिन्धुर से बन्धुर ज्यौं बिन्ध्य गन्ध-
मादन के बन्धु से गरज गुरवानि के।
झमकारे झूमत गगन घने घूमत,
पुकारे मुख चूमत पपीहा मोरवानि के॥
नदी नद सागर डगर मिली गये 'देव',
डगर न सूझत नगर पुरवानि के।
भारे जल धरणि अँध्यारे धरणी धरणि,
धाराधर धावत धुमारे धुरवानि के॥

(१२)

आजु गई हुती कुंजन लौं, बरसे उत बूँद घने घन घोरत।
'देव' कहै हरि भीजत देखि, अचानक आइ गये चित चोरत॥

पोटि भट्ट तट ओट कटी के, लपेटि पटी सो कटी पटु छोरत ।
चौगुनो रंग चढो चित मैं, चुनरी के चुचात लला के निचोरत ॥

(१३)

आली झुलावति झूँकन दै झुकि, जाति कटी झननाति झकोरैं ।
चञ्चल अञ्चल वीच चलाचल, वेनी वड़ी सुगडी चित चोरैं ॥
या विधि झूलत देखि गयो, तव ते कवि 'देव' सनेह के जोरैं ।
झूलति है हियरा हरि को, हिय माहँ तिहारे हरा के हिंडोरैं ॥

(१४)

भूलत ना वह झूलनि लाल की, फूलन माल की लाल पटी की ।
'देव' कहै लचकै कुच चचल, चोरी दगंचल चाल नटी की ॥
अञ्चर की फहरानि हिये, थहरानि उरोजन पीन तटी की ।
किंकिणि की झहरानि वुलावति, झूँकनि सों झुँकि जानि कटी की ॥

(१५)

झूलनहारी अनोखी नई, उनई इत ही रहती रँगमाती ।
मेंह मे ल्यावै पै तैसियै संग की, रग भरी चुनरी चुचुवाती ॥
झूला चढे हरि साथ हहाकरि, 'देव' झुलावत ही ते डराती ।
भोर हिंडोलै की डाँडिन छाडि, खरे ससवाइ गरे लपटाती ॥

(१६)

आसपास पूरण प्रकाश के पराग सूझै,
वनन अगार डीठि गली ह्वै निवर ते ।
पारावार पारद अपार दशो दिशि वूडी,
विधु ब्रह्मांड उतरात विधि वर ते ॥

शारद जुन्हाई जनु पूरण स्वरूप धाई,
धाई सुधा सिन्धु नभ शुभ गिरिवर ते।
उमड़ो परतु ज्योतमण्डल अखण्ड सुधा-,
मंडल मही में इन्दुमंडल विवर ते॥

(१७)

दूध सुधा मधु सिन्धु गँभीर ते, हीर जू पै न गभीर लै आवै।
बाल प्रवाल वला मिलि कै, मणि माणिक मोतिन ज्योति जगावै॥
तौ रजनीपति बीच विरामिनि, दामिनि दीप समीप दिखावै।
जो निज न्यारी उज्यारी करै, तब प्यारी के दन्तन की दुति पावै॥

(१८)

'देव' कन्दर्प के दर्पण द्वै, कि सतापस तर्प्पन दर्प्प दुधा के।
केलि कला अकुलाउ न चित्त, भुलाउ न मित्त की छोभ सुधा के॥
गोल कपोल लसै मुख ऊपर, रूप अनूप वलै वसुधा के।
जोतिन जूह उदोत दुरूह सुधाधर, मैं कि समूह सुधा के॥

(१९)

पूरण शारद इन्दु उदार, सुधारस धार सुधारन ती की।
स्वास सुवास को सुन्दर मन्दिर, मेड़ अमन्द सुहाग शिरी की॥
ऊपर वेंदी तरे लुरकी, इतहूँ उत वीर सुहीरन हू की।
वेसरि को मुकुता कलसै, धरि नाक लसै मधिनाप कनी की॥

(२०)

प्रेम महानद प्यारे के ग्रानद, आनँद संपद आपद भंजन।
जीय गड़े उमडे से वड़े बड़े, चंचल नैन मढ़े लघु अंजन॥

'देव' मनोज सुधाये सरोज पै, ओज के चोज मनो मनरञ्जन।
चंचु चुभै पल पंख उभै पिलि, मेल दहै मिलि खेलत खंजन॥

(२१)

इंदु सो आनन सुन्दर कानन, हीरन की निधि वीरन साधी।
'देव' जगामग ज्योति की लर, मोतिन की लुरकीन सो नाधी॥
पच्छ दुहूँ विकलानि कलानि, कहूँ तम हानि की कानि समाधी।
सोने की सीसी भरी मुकुतान, कलानिधि जानि भुजानि सो बाँधी॥

(२२)

नासिका ऊपर भौंहन के मधि, वंदन विन्दु मृगमद को कनु।
पूँछ सो पंखा पसारि उड़्यो, मुख ऊर्ध्व खगा लिखि मोतिन को गनु॥
'देव' को नैन पलानि तुला किधौं, भाल सुहाग के ताल तटी तनु।
नारि हिये त्रिपुरारि बँधे सुनि, हारि कै मैन उतारि धर्‌यो धनु॥

(२३)

मोतिन जोतिन बेंदी जराऊ सो, वंदन दीपति 'देव' रही दबि।
चक्र तर्‌योना युवा भ्रूकुटी भृग, नैन नहे शशि को रथ संभवि॥
बेनी बनाइके माँग गुही, तेहि माँह रही लर हीरन की फबि।
सोम के शीश मनो तम तोमहि, मध्य ते चीर कढ़ी रवि की छबि॥

(२४)

सेंदुर भाल उदै गिरि मैं, शिर फूल सोई थिरु पान को थानो।
मंग लरी शिर गंग सरी कच, अंबर ज्यौं तम जात बिलानो॥
भौहन मध्य मृगमद केसरि, वंदन लीक सुवेर पुरानो।
भू पर ते नभ ऊपर को त्रिशिरा शर मैन तनू पर तानो॥

(२५)

अम्बर नील मिली कबरी, मुकुता लर दामिनि सी दशहूँ दिसि ।
ता मधि माथे मे हीरा गुह्यो, सु गयो गड़ि केसन की छवि सों निसि ॥
माँग को मूल उतै सिर फूल, दग्यौ झमकै कनकावलि सों घिसि ।
शृंग सुमेरु मिलै रवि चंद ज्यौं, पावस मास अमावस की निसि ॥

(२६)

है अभिमान तजे सनमान, वृथा अभिमान को मान बहैये ।
'देव' दया करै सेवक जानि, सुशील सुहाय सलोनो लहैये ॥
की सुनि के बिनु मोल बिकाय न, बोलन कोइ को मोल न हैये ।
पैये असीस लचैये जो सीस, लची रहिये तब ऊँची कहैये ॥

(२७)

नीके हर्यो जु सरीकै सखो, सब गेह की दूसरी देह की हैारी ।
'देव' बनाय मनाय दिखावति, तू इन्हैं क्यों न सिखाति ऐरी ॥
बोलि उठै बिछिया जिभ चालये, शोर चुरी चहूँ ओर करै री ।
रंग में भंग करै कटि किंकिणि, अंग के संग लगे सब बैरी ॥

(२८)

सुखसार सिवार सरोवर ते, शशि शीश बँधे विधि के बल सों ।
चकई चकवा तजि गंग तरंग, अनंग के जाल परे छल सों ॥
कमलाकर ते कढ़ि कानन में, कल हंस कलोलत हैं कल सों ।
चढ़ि काम के धाम ध्वजा फहरात, सुमीनन काम कहा जल सों ॥

(२९)

ओठन ते उठि पीठि पै बैठि, कँधान पै बैठि मुर्‌यो मुख मोरनि ।
देव कटाक्षन ते कढ़ि कोप, लिलार चढ्‌यौ बढ़ि भौंह मरोरनि ॥
अंक में आय मयंकमुखी लई, लाल को बंक चितै दृगकोरनि ।
आँसुन बूड्‌यो उसास उड्‌यो किधौं, मान गयो हिलकी को हिलोरनि ॥

(३०)

है जगरी वन जीवन को तजि, जीवन जीवन को निदरै को ।
जीवत को न बिना ब्रज जीवन, जीवनमूरि को दूरि धरै को ॥
'देव' सुजीवन जीवत नाथ, उदार ह्वै ता विन प्यास मरै को ।
नाह की बाँह बिना गहिरी, गहिरी जल धार के पार परै को ॥

(३१)

धरे-मुख पै मुख अक मैं अंक, परे परयंक मैं बालम बाल ।
उसास लै ऊँची कियौ छल छैल, सराही तिया कोई रूप रसाल ॥
बधू सिर लौटि लियै भरि नैन, करौट न लेन दियौ ततकाल ।
वेई कुच कंचन शैल भयो, वही 'देव' नदी भई मोती की माल ॥

(३२)

प्यारी सकेत सिधारी सखी, सँग श्याम के काम सँदेशिन के सुख ।
सूनो इतै रंगभौन चितै चित, मौन रही चकि चौकि चहूँ रुख ॥
एकहि बार रही जकि ज्यों कि त्यों, भौंहन तानि कै मानि महा दुख ।
'देव' कछू रद वीरी दै वीरी, सुहाथ की हाथ रही मुख की मुख ॥

(३३)

नंद घरै वृषभान के भौन ते, जान कह्यौ हरि 'देव' सुहासुनि।
ताही घरी ते धरी पल लाज, घरी के धरी उघरी बतियाँ सुनि॥
प्रात अरंभ की खंभ लगी, निरदंभ निरंभ सम्हारै न सासुनि।
ठाढ़ी वड़े खन की वरसै, वड़री अँखियान बड़े बड़े आँसुनि॥

(३४)

ललित लजीली आइ ललिता विसाखा सौं,
ललित नैन मूँदि कर सैनन करत फिरै।
आये व्रजचन्द चन्द्रावलि को सुनाये सुनि,
चन्द्रमुखी धाइ प्रीति पाँवड़े धरति फिरै॥
'देव' व्रज देवी देवता मनाय मन ही,
मन निछावरि ह्वै भाँवरि भरत फिरै।
गोकुल गुसायन कुँवरि ठकुरायन सों,
गोपी गोप गायन के पाँयन परति फिरै॥

(३५)

आँगन वैठी सुनी पिय आवत, चित्त झरोखन मैं लरक्यो परै।
घूँघट मैं घट मैं पटहू मैं, समाति न फूलि हियो फरक्यो परै॥
नैनन ते सुख के अँसुवा मनौं, भौंर सरोजन ते सरक्यो परै।
मंद हँसै दुति दंत लसै मुख, सुंदर दाडिम सो दरक्यो परै॥

(३६)

वैठी ही सुंदरि मंदिर मैं, पति को पथु पेखि पतिव्रत पोखे।
तौ लगि आये री आय कह्यौ, दुरि द्वार ते देवर दौरि अनोखे॥

आनँद ते गुरु की गुरुताऊ, गनी गुण गोरिन काहुहु ओखे।
नूपुर पाइ उठे झननाय, सु जाय लगी धन धाइ झरोखे॥

(३७)

छैल को राखौ छिपाय छपा मै, छपाकर की छवि है छहराऊ।
'देव जू' गोहिं न लागे फिरै, गहि कै गहिरे रंग मैं गहिराऊ॥
पीत पटा पहिरो है भटू, उन्है नीलपटा अपनो पहिराऊ।
बाँसुरी की वनि तानन सों, ब्रज की बनितान सबै बहराऊ॥

(३८)

आजु मिले वहुते दिन भायते, भेटत भेट कछू मुख भाखौ।
ये भुज भूषण मों भुज बाँधि, भुजा भरि ओठ अवै चख चाखौ॥
दीजिए मोहिँ उठाय जरी पट, कीजिए जु जिय जो अभिलाखौ।
प्यारे हमै तुम्हैं अंतर पारत, हार उतारि इतै धरि राखौ॥

(३९)

सोवत ते उठि आई प्रभात, प्रभात की प्रीतम प्रीत सों पागे।
'देव' इतै इतराती अहो, इतराती लसै अँखियाँ निशि जागे॥
लाक लटे उलटे पट भूषण, ऊलट और छुटी लट आगे।
सौति को शूल अनूप डुकूलन, भूल परेऊ भली अति लागे॥

(४०)

सोहती हौ तुम ही ब्रज भूपुर, रूप रह्यो सब ऊपर चोखो।
चाय सों खेलती खेल सखीन, सो देख्यो नहीं मुख रंचक रोखो॥
बालम त्यों न विलोकती बोलती, अंतर खोलती ना करि ओखो।
जान्यो परै न बिगार सुहाग, तिहारो यही अनुराग अनोखो॥

(४१)

बंक विलास निरंकुश हास, सशंक चितौनि चितै चित चैनी।
घूमि कै बाट बटोही गिर्‌यो, लखि भूमि कै झाँकि गई दृग पैनी॥
कुंद सुधा अरविंद निवारिए, पूरण इंदुमुखी सुखदैनी।
'देव जू' इंदिरा मंदिर की नव, सुंदरि इंदिरा मंदिर नैनी॥

(४२)

भूलेहु जो दुचितो चित कीजै, न तौ उचितौ न पतीजै सभागी।
'देव' दुहूँ कुल को मुख देखि, सुखी रहियेई जऊ दुख दागी॥
लाज सकोच अकाज सकोचन राज करो जे इन्हैं अनुरागी।
कान सुनी जे न आँखिन देखी, ते कान लगी रहैं आँखिन लागी॥

(४३)

नीठिहु पीठ दई न लला, अबला के बँधे फिरै डीठि के डोरे।
तो दिन द्वैक बसे इक कोरे, कछू दुचिती सी करै दृग कोरे॥
'देव' कहा कहिए तिनकी, गति यों न अजौं लगि जानती भोरे।
और की चाह न छाह भये, फिरै छाह न छ्वावत नाह निहोरे॥

कुशलविलास

घनाक्षरी

(१)

जननी के अङ्क पर्यङ्क ते निशंक धाय,
'देव' वा मयङ्क मुख चखन चकोर ही।
भटकी गलीन हू न पटकी अलीन चितै,
चटकी कलीन चंचरीक चित्त चोर ही॥
नन्द जी को नन्दिनी दबोई नन्दनन्दन की,
बरजो न मानै कर जोरै बरजोर ही।
धोवन देय वदन बिलोवन दै दधिरा दे,
सोवत दै श्याम ही जगावै जिन भोर ही॥

(२)

'देव' संयोग कुहू निधनी धन, पाप निहारत ही रही जैसे।
जापर वारिए जीव रु जोवन, री धन के सुधनी धनु तैसे॥
प्राण बिना तनु की गति ज्यों, बिन प्रानपती गति प्रान की ऐसे।
जे न जियै जिय जीवित नाथ के ते युवती जिवती कहो कैसे॥

(३)

मालती की माल सी मिलाप लई हिलि मिलि,
हिय सों हिलाई हेरि हियो हरि हरि कै।

'देव' गुरु काज लाज सखिन समाज तजि,
प्रीतम सों मिलि है सुढार ढरि ढरि कै ॥
चूमि मृदु वैन नैन पंकज मयङ्कमुखी,
घूमि घूमि रही बङ्क अङ्क भरि भरि कै ।
बारि बारि बाल मृगनैनी बाल बालम की,
विमलि बलैयाँ लै लै पैयाँ भरि भरि कै ॥

(४)

प्रेम को पयोद बीजुरी लै गोद चहूँ कोद,
बरस विनोद मोद आनन्द मचे परैं ।
विमलि विहङ्गम जुगुल जैसे सङ्ग सङ्ग
सरस सुरङ्ग की तरङ्गनि नचे परै ॥
अङ्गना के अङ्ग राचे अङ्गराय अङ्ग
अङ्ग अङ्ग प्यारी के सुरङ्ग हू नचे परैं ।
ललित लजीली भौं ढीली गर्वीली,
सकुचीली के सकोचन ही लोचन लचे परै ॥

(५)

कोकिल लौं कल कूजति कुंजनि, आपुस मै मिलि कूजति पायन ।
लै भुज भेटति है भरि अङ्क, मयङ्कमुखी सुचि शील सुभायन ॥
जानै को काँधर कीन्हें कहा, नित नेम लिये चित प्रेम उपायन ।
'देव' गुविन्द की ओर चितौति, भई सबै सौति सखी सुखदायन ॥

(६)

चरन की दासी सौं उदास कत कीजै चित,
दरस की प्यासी द्वार देहरी ठई रहै।
दूसरी रँगीली गुन रूप गर्वीली वे,
रसीली ढोली बातनि ही गातन नई रहै॥
'देव' अनुकूल ह्वै दुकूलनि बनावैं क्यों न,
दम्पति अटानि पै घटा सी उनई रहै।
प्रान धन जोबन जीवन उन वारेऊ,
तन मन अर्पनु कै दरपन भई रहै॥

(७)

लीन्ह्यो मन मूसि मयन राख्यो सूम सूसि कौन,
दोष दै के दूस तू सिखापन करत री।
प्रान धन जीवन हमारे जीवितेश सो,
समीप बिनु देखै दीप जोत ज्यो जरति री॥
नाँह बाँह गहे अपनीयै परछाईं पै,
औरै तिय लेखि रही भूल ही लरति री।
'देव' दुख मोचन रँगे ज्यो रङ्ग रोचन,
लला के लखि लोचन सकोचन मरति री॥

(८)

गर्वीली बुनन लजीली ढीली भौंहनि कै,
ज्यों ज्यों नई जाति त्यों त्यों नये नेह नितई।

बीधी बात बातनि उनीधी गात गातनि,
समीधी पर्यङ्क मैं निसङ्क अङ्क हितई ॥
अँसुवन भीजी बीजी सीजी औ पसीजी,
मीजी पीजी सों पतीजी राग रंग रैन रितई ।
नाह नाह सौहैं कै हँसौहैं नेह सोहैं करी,
क्यों हू नाह सोहै ना हँसौहैं नैक चितई ॥

(९)

सूधी औ न टेढ़ी रस रोसु हूल बेढ़ी रहो,
आरस जनावती सुधा रस को पान कै ।
प्रेम लटपटी उनहू की अटपटी त्यों,
चाहै चित चौगुन सराहैं गुन गान कै ॥
'देव जू' दुहूँ को दुहूँ पायो है सुभाव हम,
झूठे बोलि भाखै कौलौ राखैं समाधान कै ।
माननी अनोखी मान ही सौं घुरी जाती कहो,
कैसे मरी जातीं मरी जातीं नैक मानकै ॥

(१०)

औडी चितौनि कहूँ उडि लागति, बन्दनि आड़ जो आड़ै न होती ।
डारतो गूँदि गुमान गयन्दु, जौ गोल कपोल में गाड़ न होती ॥
रूठतीं लोक लटै सुफुलेल, हमेल हिये भुज हाड न होती ।
इन्दु अचानक च्वै पड़तो, मुखचन्द चितै जु पै चाड़ न होती ॥

(११)

रैहै भराई न राई भरी, कोई भौंहै चढाय चितैहै सरोसै।
बूझि सभो ब्रज लाडली सों, हरि बोझ की बात कहौ निरजोसै॥
'देव' कहा भयो जो कबहूँ, भुजि मेल कहूँ उनके गल गोसैं।
देखैां कहूँ दुरि दूरि भये, अब वे नहि वे जिनके हैां भरोसैं॥

(१२)

सापने की सौतुक औ सोवत की जागत ही,
जानि न परति रोम रोम ररकत री।
बङ्क दृग बदन मयङ्क वारे अङ्क भरि,
अङ्क ए ससङ्क पर्यङ्क थरकत री॥
'देव' गति गूढ़ ढिग ढूँढ़त न पायो बिन,
मृग ज्यों मृगी के दृग आँसू ढरकत री।
याही छिन छोभ भरी छतियाँ बिछोह वाके,
कर धरि देखु तू करेजे करकत री॥

(१३)

भाग भरे आनन अनूप दाग शीतला के,
'देव' अनुराग झाँझरी से झमकत हैं।
उड़िकै निगोडी दीठि गड़ि गड़ि गाड़े परी,
उमड़ि उमड़ि आड़े लोग लमकत है॥
जोबन किसान मुख खेत रूप बीज बीजे,
चारु सुधा बुन्दनि अमन्द दमकत हैं।

बदन के बेझे पै मदन कमनैती के,
छुटारे सर चोटनि चटा से चमकत हैं ॥

(१४)

पानी की पठौन हारि निपट कठिन नारि,
देउँ कहा गारि तोही राखती सिंगारि कै ।
ए री पनिहारी 'देव' तेरी मनुहारि करौं,
नेक ही निहारि हरि गयो हिय हारि कै ॥
पनघट पारि लौं क्यों आई बटपारि सुख-
मारि जे सलोनी दारौ तापै सब वारि कै ।
हूँ घट सम्हारि अब हूँ घटि सम्हारति न,
तू घट सम्हारि कु घूँघुट सँभारि कै ॥

(१५)

तरुनी तरलनयनी वरुणीतिमिर,
अरुनाधर मधुर दुत दूनी दुज भूप सौं ।
उदित अनङ्ग रवि रङ्ग रँगमगी कवि,
'देव' जगमगी नौ जोबन अनूप सौं ॥
ऊचे कुच गिरि ते गिरो फिर न फिर्यौ तीर,
तिवली तरङ्गनि गही नाभि कूप सौं ।
लै गई भुजनि भानि उरजि मजेज माँज,
अंजन सो आँजि मनु राँजि रुचि रूप सौं ॥

(१६)

जिनके अनूप रूप सिन्धु व्रज गोरिन के,
लाज के जहाज गुनि गहे गहिरात है।
भये सुर लीन सुनि मुरली सुरनि धुनि,
धुनि धुनि सीस मुनि ईस न थिरात है॥
तेई सन्मुख मुख सोहै ह्वै हँसोहै रस,
लालच ही लाल चित लुर लुर जात है।
'देव' दुखमोचन सलोनी मृगलोचनि,
तो देखि देखो लोचन लला के ललचात है॥

(१७)

कैसो किसोरी को केसरि सो तनु, केस बड़े वडे नीर निचोवै।
हाँसी सुधा सी सुधानिधि सो मुख, माँग के मोतिन मैल मिलोवै॥
कान अहो धरि राखौ न होय, हने हू नखौ जो सुने सुख खोवै।
राधे सी रूप उजागरि नागरि, सो गुन आगरि गागरि ढोवै॥

(१८)

काढ़ि पियूख पियूख मयूख, मिलै मदिरा बिखु बोइ नदी मैं।
'देव' गऊ सुर-रूख धनन्तरि, साहस सङ्गहि न्योतिन ही मैं॥
रानी रमा गहि आनि जपै, सुर है गज रम्भ कहौ किन ही मै।
छैल छिपे रह्यौ छील समुद्र, न छार समुद्र करो छिन ही मैं॥

(१९)

प्रेम पियूख पियो मुख जो, सुख मानि है तौ विष को अभिलाखिन।
'देव' वियोग के भोग भरी, सु वृथा अब जोग कथा कछु भाखिन॥

जो निकरे ब्रज ते तौ कहा, हरि पै हिरदै ते कढ़ै कहुँ ना खिन।
आँखिन ओट करैं जनि राखि, करेजिन छेद करे जिन आँखिन॥

(२०)

कठिन कुठाठ काठ कुंठित कुठार कूठ,
रूठी हठ कोठरी कपाट कपटन की।
चीकनी सोहाग नेह हमकी सराग पर,
प्रेम पाँव परत न राह रपटन की॥
बर तनु बरत उबारिए लुरत बारि,
बारिए न बिरह दवारि झपटन की।
'देव जू' विदेह दाह देह दहकत आवै,
आँच लपटनि ओत आँच लपटन की॥

(२१)

वा नँदगाँव को साँवरो सो कछु, नीको सुनाऊँ सुन्यौ मैं नितै हीं।
'देव' कहा कहूँ देखत ही बनै, देखौं तितै तितै जात जितै हीं॥
आजु अमैही इहाँ ही हौं भौर ते, देखौ री दूरि दुरयो है कितै हीं।
चंचल दीठ मै ढीठ चुभै, चित चोरि लियो चितचोर चितै हीं॥

(२२)

आलि अहे मृग-बाल-बिलोचनि, मो दुख मोचन रूप तिहारो।
सुन्दरि चन्द्रमुखी प्रियवादिनी, बोलती बोल सो प्राण ते प्यारो॥
सो सब भाँति भई हौं भटू, सखियान करो अँखियान को तारो।
वा नँदगाँव मे साँवरो सो जू, तिहारी उन्हारि हितू है हमारो॥

(२३)

जोबन भानु नहीं उद्यो ससि, सय सबहू को प्रकास न ऊनो।
ज्यों हरदी पहरीं पियराई, जुन्हाई को रूप भयो मिलि चूनो॥
'देव' रचो अँग अङ्गनि रङ्ग, बढ़्यो सु सयानु अयानु न लूनो।
वैस बराबरि दोऊ सुहात, सु गोरी कु गातु प्रभात सो पूनो॥

(२४)

सोन सरोज कलीन के खोज, उरोजनि को उर रोज निहारो।
'देव जू' बाढ़त ओप घरी पल, त्यों ही नितम्ब भयो कछु भारो॥
कानन की ढिग ह्वै हग दौरति, चातुरी चाऊ चवाव पसारो।
दाब्यो दुहूनि दुहूँ दिसि ते, सुभयो दबि दूबरो लङ्क बिचारो॥

(२५)

पी के सनेह सखी के प्रपञ्च, पची पहिले पति प्रीत धुरी सी।
दूसरी देव तनौनु जनी, रजनी रस की सजनी निठुरी सी॥
भाग भरी अनुराग सुहाग की, लाग लगी लरिकाई लुरी सी।
लाज मैं प्रेम पगी बतियाँ, लगी सौतनि की छतियान छुरी सी॥

(२६)

प्यारे के प्यार सों पइए सुहाग, सो न्यारे भये नित नेह निहोरिए।
जा सुख सङ्ग को अङ्ग सिंगारिये, तासों बिगारिये क्यों विष बोरिए॥
जासों बँध्यो धन जोवन जीवन, 'देव' तहाँ चित दै हित जोरिए।
तेरेई गोहन लाग्यो फिरै, मनमोहन सो भरो भौंह न मोरिए॥

(२७)

बाजी बलै रसना रसनाद सुनूपुर, भोग की भूपर मारै।
ओज के तान मनोज के मान सों, ओज के गान गरे अनुसारै॥
लाज लुटी छिन एक छुटी लट, 'देव' कटाच्छ कुटीर के द्वारे।
प्रेम पुटी पटी जोग जुटी, सुनटी सुनटी भ्रुकुटी के अखारे॥

(२८)

तिल तिल रूप की तिलोत्तमा न तूल जाके,
अति ही अतूलनि की बनी ही कुँवारी सी।
परिमल मूलनि दुकूलनि मे मिल रही,
फूलनि बसाई फूलि फूली फुलवारी सी॥
हेमँत हसन्ती सी बसन्तमय बसन्ती रितु,
ग्रीषम की ऊखम पियूख सुखकारी सी।
'देव' कामदेव दुख दुसह दवागिन की,
आँच लगे हिय मे हिमंचल बयारी सी॥

(२९)

संकेत सदन 'देव' मदन विलास बिधु-
वदनी बदन दोऊ दुहुनि भरे गोदनि।
त्रिविध समीरन चकोर भौंर-भीर मैं,
छीरनिधि बीछित में छाई छित छिरोदनि॥
केतकी रजनि अरगजनि मधुर मधु,
राका की रजनि राजै रंजित चहूँ कुदनि।

वृन्दावन वीच मृदु मन्दार विनोद मोद,
मन्दिर वसायो मृग भेदनी के आमोदनि ॥

(३०)

फूलन की सेज पै दुकूलनि सँभारति न,
खुले भुजमूलनि लता से लहराइयत।
विथुरी न जानै पिकवैनी वड़ी वेनी टूटि,
हारन ते छूटि छित मोती छहराइयत॥
पीयुख मयूख मुख पीयुख निचोरि कै,
सुगन्ध बारि बोरि पटु पौन फहराइयत।
श्रम के हरन सुखदेनी के सुख करन,
सखी कर चरन सरोज सहराइयत॥

(३१)

चढ़ि कै कदम्ब पै दिगम्बर पै अम्बर ऊ,
उजारें हरि लीने हरि हरि कै।
बार न लगाई नाँगी बारि ते निकसि देऊ,
वरु बरियाई बरियाई बरि बरि कै॥
मै न बलवीर वलवीरी की सौं देखै गैल,
गैल ऐल पारी मेरी गैल परि परि कै।
हारी कर जोरि बरजौ री काहि काहि ब्रज,
बैरी बैर पर्यो बरजोरी करि करि कै॥

(३२)

बङ्क विलास निरंकुस हास, ससङ्क चितौनि चितै चित चैनी।
घूमि के बाट बटोही गिर्‌यो, लखि भूमि के झाँक गई दृग पैनी॥
बुन्द सुधा अरि बिन्दु निवारिए, पूरन इन्दुमुखी सुख दैनी।
'देव जू' इन्दिरा मन्दिर की, नौ सुन्दरी इन्दिरा मन्दिर नैनी॥

(३३)

सखी काल्ह की छोहरी छैल भई, छिपि गैल हौ जानति जात जहाँ तू।
कौन भुलाई दुलाई तै दीठ तै, पीठ चली तज ईठ तहाँ तू॥
हौं कवि की बकवाद बकी थकि, 'देव जू' बोलत नाहीं न हाँ तू।
बातनि देव बितौति तू सोति, अजों बिख बौति चितौति कहाँ तू॥

(३४)

राधे की गुपित प्रेम रस सों रसाने कान्ह,
आये बरसाने ग्वाल बालनि बिसारि कै।
बाँसुरी बजाई गाइ बिरह जगाय,
ललिता सों लौ लगाय लङ्गर बिचारि कै॥
सोई सुनि सुनि धुनि सीस धुनि धाई उर,
आनँद बधाई गुरजननि सों रारि कै।
आँसू दृग ढारिकै बिदारिकै सखीन आई,
नेह सो निहारि 'देव' तनु मनु वारि कै॥

(३५)

चीतो परै नहीं चीतो चबाइनी, देखत पीठ दै दीठि कै पैनी।
चौंके चितै चितवै चहुँ ओर, चलाचल चंचल चित्त अचैनी॥

चाहत 'देव' दुरै दुलही, सुखदानि को आनि मिल्यो सुखदैनी ।
भूलि परी मृग को मगु चाहि, भई मृगया की मृगी मृगनैनी ॥

(३६)

सखि क्यों अकुलाई दुलाई कै धीरजु, बैठी भुलाई कला रस केली की ।
पौरि लौं दौरि पढ़ाई सुवाइन, आँसुन लीलति धील सहेली की ॥
'देव' इतै वलि लेन चले अलि, चाँचर आँचरि बेलि नवेली की ।
पौरु अगौंनू पठायो सँदेश, दै लाल को आवनु माल चमेली की ॥

(३७)

चारन देत किवार अबारहू, तोसों मैं बार हजार कही री ।
फूल विथोरे दुकूलनि छोरि लै, भावत मोहिं बयार न सीरी ॥
'देव' कहाँ लौं गिनौ उनके गुन, सीसु धुनो न सुनौ धुन ए री ।
दारि दे सौंधे बिदारि दे लौंड़ी हौ, गारि दै बेलो बिगारि दै बीरी ॥

(३८)

बैरिनि जीभहिं तीभ दै री, मन बैरी कौ मीज कै मौन धरौगी ।
जानै को 'देव' कहा भयो मोहि, लरी कहैं लोग। कहा लौं मरौगी ॥
प्रानपती सुख सर्वस वे, उनसों गुन रूप को गर्व करौगी ।
अंजलि जोरि निहोरि गरे परि, औ हरि प्यारे के पाँव परौगी ॥

(३९)

चैतु चितै दिन चारिक फूली, लता झरि झूरी निमूली सी हेरे ।
भौंर भरोसे भिरैं सबही सों, घिरैं सब हीं के घिरै नहिं घेरे ॥
'देव' अहो बलि है बलिहारी, तिहारी सी प्रीति निहारी न मेरे ।
दाह बुझाई सुझाई दिखाई, सुहाई भली समुझाई सबेरे ॥

स्फुट कविता

(१)

पाँयन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै वनमाल सुहाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मन्द हँसी मुख चंद जुन्हाई।
जै जग मंदिर दीपक सुंदर, श्री बृज दूलह 'देव' सहाई॥

(२)

गंग तरंगनि बीच बरंगनि, ठाढ़ी करै जपु रूप उदोती।
'देव' दिवाकर की किरनै, निकसै बिकसै मुख पकज जोती॥
नीर भरी निचुरै अलकै, छुटि कै छलकै मनो माँग के मोती।
बिज्जुलि से झलके लपटे कन, कज्जल से अँग उज्जल धोती॥

(३)

अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि, अंगनि ओप मनो उफनी।
'कवि देव' हिये सियरानी सबै, सियरानी को देखि सुहागसनी॥
वर धामन बाम चढ़ी बरसै, मुसुकानि सुधा बनसार बनी।
सखियानि के आनन-इंदुन ते, अँखियानि की बंदनवार तनी॥

(४)

स्याम के संग सदा हम डोलै, जहाँ पिक बोलै अलीगन गुंजै।
लाहनि माह उछाहनि सो, छहरै जहँ पीरी पराग की पुंजै॥

बोलनि मैं रस केलिन मैं, 'कवि देव' कछू चित की गति लुंजै ।
कालिंदी-कूल महा अनुकूल ते, फूलती मंजुल बंजुल कुंजै ॥

(५)

सँजोगिन की तू हरै उर पीर, वियोगिनि के सचरे उर पीर ।
कलीन खिलाइ करै मधु पान, गलीन भरै मधुपान की भीर ॥
नचै मिलि बेलि बधूनि अचै, सुर 'देव' नचावति आधि अधीर ।
तिहू गुन देखिए दोष भरो, अरे सीतल मंद सुगंध समीर ॥

(६)

कातिक पून्यो की राति ससी, दिसि पूरब अंबर मैं जिय जान्यो ।
चित्त भ्रम्यो पुमनिंदु मनिंदु, उठ्यो भ्रम ही सो भुलान्यो ॥
'देव' कछू बिसवास नहीं, सोई पुंज प्रकास अकास मे तान्यो ।
रूप-सुधा अँखियानि अँचै, निहचै मुख राधिका को पहिचान्यो ॥

(७)

सुनि कै धुनि चातक मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों ।
अनुराग भरे हरि बागनि मैं, सखि रागत राग अचूकनि सो ॥
कवि 'देव' घटा उनई जु नई, बनभूमि भई दल दूकनि सों ।
रँगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकनि सों ॥

(८)

आली झुलावति झूँकनि सों, झुकि जात कटी झननाति झकोरे ।
चंचल अंचल की चपला, चलवेनी बडी सो गड़ी चित चोरे ॥
या विधि झूलत देखि गयो, तब ते कवि 'देव' सनेह के जोरे ।
झूलत है हियरा हरि को, हिय माहिँ तिहारे हरा के हिँडोरे ॥

(९)

आई बसंत लग्यो बर सावन, नैनन ते सरिता उमहै री।
कौ लगि जीव छमावै छपा, मैं छपाकर की छबि छाई रहै री॥
चंदन सों छिरके छतिया, अति आगि उठे उर कौन सहै री।
सीतल मंद सुगंध समीर, बहै दिन दूगुन देह दहै री॥

(१०)

फूले अनारनि पाँडर डारनि, देखत 'देव' महाउरु माँचै।
माधुरी भौरनि अंब के बौरनि भौंरनि के गन मंत्र से बाँचै॥
लागि उड़ै बिहागिनि की कचनारनि बीच अचानक आँचै।
साँचै हुँकारि पुकारि पिकी कहै नाच बनैगी बसंत की पाँचै॥

(११)

लोग लुगाइन होरी लगाई, मिलामिली चारु न मेटत ही बन्यौ।
'देवजू' चदन चूर कपूर, लिलारनि लै लै लपेटत ही बन्यौ॥
चै त्यहि औसर आये इतै, समुहाई हियो न समेटत ही बन्यौ।
कीनी अनाकिनि मैं मुख मोरि, पै जोरि भुजा भटू भेटत ही बन्यौ॥

(१२)

राधिका सी सुर सिद्ध सुता, नर नाग सुता 'कवि देव' न भू पर।
चंद करौं मुख देखि निछावरि, केहरि कोटि लटो कटि हू पर॥
काम कमान हूँ को भृकुटीन पै, मीन मृगीनहू को दृग दू पर।
वारौं री कंचन-कंज-कली, पिकबैनी के ओछे उरोजन ऊपर॥

(१३)

खंजन मीन मृगीन की छीनी, दृगंचल चचलता निमिखा की।
'देव' मयंक के अंक की पंक, निसंक लै कज्जल लीक लिखा की॥
कान्ह बसी अँखियान विषे, बिसफूरति बीस बिसे विसिखा की।
दीपति मैन-महीप लिखाई, समीप सिखा गहि दीप-सिखा की॥

(१४)

कोयन ज्योति चहूँ चपला, सुर-चाप सुभू रुचि कज्जल कादौ।
बुंद बड़े बरसै अँसुआ, हिरदै न बसै निरदै पति जादौ॥
'देव' समीर नहीं दुनिए, धुनिए सुनिए कलकंठ निनादौ।
तारे खुले न घिरी वरुनी, घन नैन भये दोउ सावन भादौ॥

(१५)

धार मैं धाई धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न अवेरी।
री अँगिराई गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहिं घेरी॥
'देव' कछू अपनो बसु ना, रसु लालच लाल चितै भईं चेरी।
वेगि ही बूडि गई पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

(१६)

काननि कोननि कूदि फिरै, करि सौतिन के उर खेत की खूँदनि।
'देव' जू दौरि मिले ठगि ज्यों, मृग जे न फँदे फँदवार के फूँदनि॥
घूँघट के घट की नटकी, सु छुटी लटकी लट की गुन गूँदनि।
केहू कहूँ न छुरै बिछुरै, बिचरै न चुरै निचुरै जल बूँदनि॥

(१७)

पूरन प्रेम सुधा बसुधा, वसु धार भई बसुधार सुरेखी ।
जीवन या बृज जीवन की, बृज जीवन जीवन मूरि विसेखी ॥
तू परमावधि रूप रमा, परमानँद को परमानँद पेखी ।
नेह भरी नख ते सिख 'देव', सुदेह धरे ससि-मूरति देखी ॥

(१८)

सोधि सुधारि सुधा धरि 'देव', रची नख ते सिख सुद्ध ससी सी ।
सोने से रंग सलोने-से अंगन, कौने न नैन कसौटी कसी सी ॥
ही के बुझै सब ही के सताय सु, सौतिन को असराप असी सी ।
आवती हौ हित ही की हितू भई, आवती हौं अँखियानि बसी सी ॥

(१९)

अंबर नील मिली कबरी, मुकुता-लर दामिनि-सी दसहूँ दिसि ।
ता मधि माथे से हीरा गुह्यो, सु गयो गड़ि केसन की छबि सों लिसि ॥
माँग के मूल बनो सिर फूल, दप्यो झमकै कनकावलि सों घिसि ।
शृंग सुमेरु मिले रवि-चंद ज्यों, पावस मास अमावस की निसि ॥

(२०)

औंड़ी चितौनि कहूँ उडि लागती, बंदन आड़े जो आड़ न होती ।
डारती गूँदि गुमान गयंदु जो, गोल कपोलनि गाड न होती ॥
लूटती लोलु लटैं सफुलेल, हमेल हिये भुज टाड़ न होती ।
चंदु अचानक च्वै परतो, मुखचंदु पै जो चित चाड़ न होती ॥

(२१)

ईंगुर सो रँग ऍड़िन बीच, भरी अँगुरी अति कोमलतायनि।
चंदन-बिन्दु मनौ दमकैं, नख 'देव' चुनी चमकै ज्यों सुभायनि॥
बंदत नन्दकुमार तिहारेई, राधे बधू ब्रज की ठकुरायनि।
नूपुर-संजुत मंजु मनोहर, जावक-रंजित कंज से पायनि॥

(२२)

प्यारी सकेत सिधारी सखी सँग, स्याम के काम सँदेसनि के सुख।
सूनौ इतै रँगभौन चितै चित, मौन रही चकि चौंकि चहूँ रुख।
एक ही बार रही जकि ज्यों, त्यों भौंहनि तानि कै मानि महा दुख॥
'देव' कछू रद बीरी दै बीरी, सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख॥

(२३)

पहिले सुनि राख्यौ हो भाख्यो सखी, रस चाख्यो अचानक कान पुटी।
लखि चित्र-चरित्र लख्यो सपने, अब तौ खिन आँखिन आँख जुटी॥
उमग्यो मनु 'देव' लग्यो पनु सो, गुरु बंधुनि की धन-रासि लुटी।
कुल-कानि की गाँठि ते छूट्यो हियो, हिय ते कुल-कानि की गाँठि छुटी॥

(२४)

आँखिन आँख लगाये रहै, सुनिए धुनि कानन की सुखकारी।
'देव' रही हिय मैं घरु कै, न रुकै निसरै बिसरै न बिसारी॥
फूल मै बासु ज्यों मूल सुबासु की, है फल फूलि रही फुलवारी।
प्यारी उज्यारी हिये भरि पूरि है, दूरि न जीवन-मूरि हमारी॥

(२४)

जेठी बड़ी ते अमेठी सी भौंहनि रूछ, महा मन सूछम सीछैं ।
'देव जू' बातनि ही सौं हितौति,सी, सौति सखी सुचितौति तिरीछैं ॥
लाज की आँचन या चित राच न, नाच नचाई हौं नेह न छीछै ।
चाह भई फिरौं या चित मेरे कि, छाँह भई फिरौं नाह के पीछैं ॥

(२५)

पीछे तिरीछे कटाच्छन सों, इत वै चितवैं री लला ललचोहै ।
चौगुनो चाउ चबायनि के चित, चाह चढ़े हैं चबाउ मचोहै ॥
जोबन आयो न पाप लग्यो, कवि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसौहैं ।
जी मैं लजैए जु जैए कहूँ, तित पैये कलंक चितैए जु सोहैं ॥

(२६)

पीर सही घर ही में रही कवि 'देव' दियो नहिं दूतिन को दुख ।
काहु की बात कही न सुनी, मनु मारि बिसारि दियो सिगरो सुख ॥
भीर मैं भूलि कहूँ सखि मैं, जब ते ब्रजराज की ओर कियो रुख ।
मोहिं भटू तब ते निसि-दौस, चितौत ही जात चबाइन के मुख ॥

(२७)

काहू की कोई कहावति हौं नहिं, जाति न पाँति न जाते खसौंगी ।
मेरिये हास करौ किन लोग हौं, को कवि 'देव जू' काहि हँसौंगी ॥
गोकुल चन्द की चेरी चकोरी ह्वै, मंद हँसी मृदु फंद फँसौंगी ।
मेरी न बात बकौ बलि कोई, हौं बावरी ह्वै ब्रज-बीच बसौंगी ॥

(२८)

जागत जागत खीन भईं, अब लागत संग सखीन को भारो।
खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो बिसे बीस बिसारो॥
तौ सुधि दौस गँवावति 'देव जू', जामिनि जाय मनौ जुग चारो।
नीरज नैन निहारिए नैनन, धीरज राखत ध्यान तिहारो॥

(२९)

पहिले सतराय रिसाय सखी, यदुराय पै पाय गहाइए तौ।
फिरि भेंटि भटू भरि अंक निसंक, बड़े खिन लौं उर लाइए तौ॥
अपनो दुख औरन कौ उपहास, सबै कवि 'देव' बताइए तौ।
घनस्यामहि नेकहुँ एक घरी को, इहाँ लगि जो करि पाइए तौ॥

(३०)

सुखसार सिवार सरोवर ते, ससि सीस बँधे बिधि के बल सों।
चकई चकवा तजि गंग तरंग, अनंग के जाल परे छल सों॥
कमला करके कढ़ि कानन में, कल हंस कलोलत हैं कल सों।
चढ़ि काम के धाम ध्वजा फहरात, सुमीनन काम कहाँ जल सों॥

(३१)

अरिकै वह आज अकेले गई, खरिकै हरिकै गुन रूप लुही।
उनहूं अपनो पहिराय हरा, मुसक्याय कै गाय कै गाय दुही॥
कवि 'देव' कह्यौ किन कोई कछू, तब ते उनके अनुराग छुही।
सब ही सों यहै कहै बाल-बधू, यह देखु री माल गोपाल गुही॥

(३२)

आँखिमिहीचनि खेलत मोहिं, दुहूँ बिधि सोच कहूँ नटि जाइ न ।
चोर ह्वै सोर कै नन्दकिसोर री, जाइ छिपै पै कहूँ सटि जाइ न ॥
नैन मिहीचौं जु पै उनके, तजि लाज सनेह कहूँ हटि जाइ न ।
नाथ हा ! हाथ सरोज से गोरे, करेरे कटाच्छ कहूँ कटि जाय न ॥

(३३)

गोत-गुमान उतै इत प्रीति, सुचादरि सी अँखियान पै खैंची ।
छूटै न कानि दुहूँ दुखदानि, की 'देव जू' हौं दुहुँ ओर ते ऐंची ॥
सील लटो न हियो पलटो, प्रगटी सु निरंतर अंतर कैंची ।
या मन मेरे अनेरे दलाल ह्वै, हौं नँदलाल के हाथ लै बेंची ॥

(३४)

जीभ कुजाति न नेकु लजाति, गनै कुल-जाति न बात कह्यो करै ।
'देव' नयो हिय नेह लगाय, विदेह की आँचन देह दह्यो करै ॥
जीव अजान न जानत जान, जो मैन अयान के ध्यान रह्यो करै ।
काहे को मेरो कहावत मेरो जु, पै मन मेरो न मेरो कह्यो करै ॥

(३५)

आई नहीं तन मे तरुनाई, भई नहिं स्याम के संग सँयोगिनि ।
कौने सिखाई धौं सीख कहा, सुमिरै धरि ध्यान मनो युग योगिनि ॥
भोजन बास न हास विलास, उसास भरै मनो दीरघ रोगिनि ।
आँखिन ते असुआ नहिं सूखत, एकई बार ह्वै बैठी वियोगिनि ॥

(३६)

घोर लगौ घर बाहिर हू डर, नूतन नूत दवागि जरे से।
रंगित भीतिन भीति लगै, लखि रंग मही रन रंग ढरे से॥
धूम घटागर धूपन की, निकसै नव जालन व्याल भरे से।
जे गिरि-कन्दर-से मन-मन्दिर, आज अहो उजरे उजरे से॥

(३७)

पून्यो प्रकास उदो उकसाइ कै, आस हूँ पास बसाइ अमावस।
दै गये चित्त मैं सोच-विचार, सु लै गये नींद छुधा बल बावस॥
है उत 'देव' बसंत सदा, इत है उत है हिय कंप महावस।
दै सिसिरो निसि ग्रीषम के, दिन आखिन राखि गये रितु पावस॥

(३८)

ना यहु नन्द को मंदिर है, वृषभान को भौन कहा जकती हौ।
हौं ही कि ह्याँ तुम ही कवि 'देव जू', काहि धौं घूँघट कै तकती हौ॥
भेटती मोहि भटू केहि कारन, कौन की धौं छवि सो छकती हौ।
कैसे भई हौं कहौ किन कैसे हूँ, कान्ह कहाँ हैं कहाँ बकती हौ॥

(३९)

'देव' जु पै चित चाहिए नाह, तौ देह निबाहिए देह मर्‌यो परै।
त्यों समुझाय समुझाइए राह, अमारग जो पग धोखे धर्‌यो परै॥
नीके में फीके ह्वै आँसू भरौ, कत ऊँची उसास गरो क्यों भर्‌यो परै।
रावरो रूप पियो अँखियान, भर्‌यो सुभर्‌यो उबर्‌यो सुढर्‌यो परै॥

(४०)

पूतना को पय पान करो मनु, पूत-नाते विसवास वगाहत।
'देव' कहा कहौं मातु-पिता-हित-बन्धुन सों हितु नीके निवाहत॥
कारे हौ कान्ह निकारे हौ कीलि, रहे गुन लीलि पै औगुन थाहत।
पन्नग की मनि कीन्हे तुम्हैं, तुम पन्नग की किचुलीं कियो चाहत॥

(४१)

रावरे पाँयन ओट लसै, पग गूजरी वार महावर ढारे।
सारी असावरी की झलकै, छलकै छबि घाँघरे घूम घुमारे॥
आओ जु आओ दुराओ न मोहू, सु 'देव जू' चन्द दुरै न अँध्यारे।
देखौ हौ कौन सी छैल छिपाई, तिरीछे हँसै वह पीछे तिहारे॥

(४२)

बैठी कहा धरि मौन मट्ठू, रँगभौन तुम्हैं बिन लागत सूनौ।
चातक लौं तुम ही ररि 'देव', चकोर भयो चिनगी करि चूनौ॥
साँझ सुहाग की माझ उदौ, करि साँति सरोजन को वन लूनौ।
पावस ते उठि कीजिए चैत, अमावस ते उठि कीजिए पूनौ॥

(४३)

चोरी लगै चहुँ ओर चितौतु, कलंक लगै मग मे पगु दै री।
दंतनि दावि रहौ अँगुरी, अँगुरी कहुँ नेकु जु पै उघरै री॥
'देव' दुरै रहिए हँसिए नहिं, बैरनि बैस किये जग बैरी।
जौ न घिरे रहिए घर मैं, तौ घने घिरि आवत है वर वैरी॥

(४४)

आई हौं देखि वधू इक 'देव', सु देखितै भूली सबै सुधि मेरी।
राख्यो न रूप कछू विधि के, घर लाई है लूटि लुनाई की ढेरी॥
येबी अबै वहि ऐबे है वैस, भरैंगी हराहरु घूँटि घनेरी।
जे जे गनी गुनि-आगरि नागरि, ह्वैहैं ते वाके चितौति की चेरी॥

(४५)

नारि जु वारिज सी विकसी रहै, प्रेम कसी पिक-सी कल कूजै।
जा बड भाग के भौन वसी, तेहि पीतम के चलि कै पग छूजै॥
और कहा कहिए तेहि द्वार की, दासी ह्वै 'देव' उदास न हूजै।
आँखिन को सुख सुन्दरि को, मुख दीखत हू दिख साध न पूजै॥

(४६)

चूमै बडे बबा नंद को बंस, जसोमति माय को मायको बूझत।
बोलत बातैं बड़ी बन मैं, मन मैं वृषभानु बबा सों अरूझत॥
'देव' दबीं हम नेह के नाते, न तौ पुरिखा इन बातन जूझत।
जीभ सम्हारि न काढ़त गारि हौ, ग्वारि गँवारि हमैं हरौ बूझत॥

(४७)

प्रानपती के पयान प्रभात, प्रभाकर कोटि हुतो प्रतिकूल सों।
रैहैं क्यों प्रान प्रलै पहिले दिन, दूसरो दौस दसा दुख-मूल सों॥
नेह रच्यो विरहागि तच्यो, प्रिय-प्रेम पच्यो पजरै तन-तूल सों।
सासनि दूखि उसासनि रूखि, गयो मुख सूखि गुलाब के फूल सों॥

(४८)

प्रान से प्रान-पती सो निरंतर, अंतर-अंतर पारत हेरी।
'देव' कहा कहौ बाहेर हूँ, घर बाहर हूँ रहै भौंह तरेरी॥
लाज न लागति लाज अहे, मोंहि जानी मैं आज अकाजिनि ए री।
देखन दे हरि को भरि नैन, घरी किनि एक सरीकिनि मेरी॥

(४९)

साँझ ही स्याम को लेन गई, सु बसी बन मे सब यामिनि जाय कै।
सीरी बयारि छिदे अधरा, उरझो उर झाँखर झार मँझाय कै॥
तेरीसि को करिहैं करतूति, हुती करिबे सु करी तै बनाय कै।
भोर ही आई भटू इत मो, दुखदाइन काज इतो दुख पाय कै॥

(५०)

पातरे अंग उड़ै बिन पंखन, कोमल बानि चबानि बिरी की।
जोबन रूप अनूप निहारि कै, लाज मरै निधि राजसिरी की॥
कौल से नैन कलानिधि सों मुख, कोटि कला गुन की गहिरी की।
बाँस के सीस अकास पै नाचति, को न छक्यो छवि सोनचिरी की॥

(५१)

माखन सो मन दूध सो जोबन, है दधि ते अधिकै उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाँछ, बिलोकि सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन नेह चवै कहि 'देव', बुझावति बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहो, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी॥